परिचय

जन्म—माघ शुक्ल द्वादशी सं० १९४६
मृत्यु—कार्तिक शुक्ल एकादशी सं० १९९४

"सुँघनीसाहु" के नाम से प्रसिद्ध काशी के एक प्रतिष्ठित, धनी और उदार घराने मे श्री जयशङ्कर प्रसाद जी का जन्म हुआ था।

प्रसाद जी ने अंग्रेजी की शिक्षा ८ वें दर्जे तक स्कूल में पाई थी। परन्तु घर पर उन्हें अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और संस्कृत की अच्छी शिक्षा मिली। उस समय के काशी के अच्छे कवियों के सत्सङ्ग से बाल्यकाल से ही उनकी कविता के प्रति रुचि जागृत हो गई थी।

पन्द्रह वर्ष की उम्र से वे लिखने लगे थे। संवत १९६३ में 'भारतेन्दु' में प्रथम बार उनकी कविता प्रकाशित हुई। इसके बाद उन्हीं की प्रेरणा से निकले 'इन्दु' मासिक में नियमित रूप से उनकी कविता, कहानी, नाटक और निबन्ध प्रकाशित होने लगे।

प्रसाद जी ने नवीन युग का द्वार हिन्दी मे खोला था। वे कविता की नवीन धारा के प्रवर्तक और उसके सर्वमान्य श्रेष्ठ कवि थे। हिन्दी के नाटक-साहित्य में उनकी देन सब से अधिक है और वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में भी विख्यात हैं। कथा-साहित्य भी उनसे कीर्तिवान बना है। १९११ से, जब हिन्दी के अपने मौलिक कहानी लेखक नही थे, तब से उसके भण्डार को उन्होंने भरा है। कथा साहित्य मे प्रसाद-स्कूल, अपनी विशिष्ट शैली के कारण अपना एक अलग ऊँचा स्थान रखता है। साहित्य के इन विविध अङ्गो की पूर्ति के साथ-साथ उन्होने साहित्य तथा खोज सम्बन्धी निबन्ध भी लिखे हैं, जिनका स्थान साहित्य मे बहुत ऊँचा है।

जयशंकर प्रसाद

कवि की साहित्यिक, सामाजिक और

लेखक

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

ग्रन्थ संख्या—७८

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस,
प्रयाग

मुद्रक—
कृष्णाराम मेहता,
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

विषय सूचना

यह पुस्तक

मेरी यह पुस्तक प्रसादजी के संबंध में लिखे हुए सात निबंधों का संग्रह है। ये निबंध भिन्न भिन्न समयों पर लिखे गए थे और इनमे से कुछ तो दस-ग्यारह वर्ष पूर्व के हैं। उस समय मैं साहित्य क्षेत्र में आया ही था, इसलिए एक आरंभिक लेखक का कच्चापन भी, संभव है, इनमें से कुछ निबंधों में मिले। मैने दो-चार वाक्य इधर-उधर घटा-बढ़ा देने के अतिरिक्त शेष सब ज्यों-का-त्यो रहने दिया है। इससे पाठक मेरे समीक्षा संबंधी उद्योगों को मूलरूप मे ही देख सकेगे। इन निबंधो को लिखते समय इन्हें किसी क्रमबद्ध पुस्तक का आकार देने की कल्पना मेरे सामने नही थी। इसलिए पुस्तक रूप में ये निबंध कुछ अपूर्ण भी मालूम दें तो आश्चर्य नही (यद्यपि इनका एक सिलसिला स्थापित करने की चेष्टा अवश्य की गई है)। प्रसादजी के संपूर्ण साहित्य का हवाला देना इन निबंधो मे मेरा उद्देश्य नहीं रहा। इनमे तो प्रसाद जी की मनोभावना और चिन्ताधारा के विकास तथा उन्हें कलात्मक स्वरूप देने के उनके प्रयासो की ही चर्चा की गई है। कहीं कहीं यह चर्चा आनुषंगिक रूप मे ही हो पाई है और कहीं कहीं तो संकेतमात्र बनकर रह गई है। मै कोई प्रशस्त लेखक नही हूँ जो विषय को विस्तार के साथ समझाते और उसे पूरा-पूरा उद्घाटित कर देते हैं (यदि ऐसा होता तो यह पुस्तक

अब की अपेक्षा दूने-तिगुने आकार की हो जाती)। मैं तो साहित्य मे रचनाकार की अंतः-प्रेरणा का अनुसंधान करने मे ही व्यस्त हूँ। इसीके साथ-साथ संक्षेप में बाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अंत में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना बस समझता हूँ। फलतः मुझे बहुत विस्तार में जाने की आदत नहीं है। रचयिता की चुनी हुई विशेषताओं और प्रवृत्तियों का यथा-संभव थोड़े में उल्लेख कर देना मैं अपने लिए पर्याप्त समझता हूँ। इसलिए इंगित-शैली से काम लेता हूँ। हाँ यह चेष्टा मेरी अवश्य रहती है कि विवेचित व्यक्ति या वस्तु के स्वरूप विषयक कोई आवश्यक बात छूटने न पावे। इतना ही कर सकना मैं अपने लिए बहुत मानता हूँ। इससे अधिक की शायद मुझ मे शक्ति भी नही है। अपनी इस असमर्थता का इजहार पाठकों के संमुख इसलिए करना पड़ रहा है कि वे इस पुस्तक मे यत्र-तत्र सूत्र रूप से कही गई बातो को भी अपनी पैनी दृष्टि से पकड़ने की चेष्टा करें और साथ ही व्यासशैली में बड़ा पोथा न लिख सकने की मेरी अक्षमता को क्षमा भी कर दें। आशा है मेरा यह आत्मनिवेदन सफल होगा और अभ्यर्थना व्यर्थ न जायगी।

इस पुस्तक के लिए इससे अधिक मेरा कोई दावा नही है कि इसमें मैंने प्रसाद जी की साहित्यिक प्रगति को अपने ढंग से समझने की चेष्टा की है। अवश्य, प्रसादजी की साहित्यिक प्रगति के संबंध में मेरे बहुत से दावे हैं। मुझे प्रसन्नता भी है कि अब,

समय की गति के साथ, ये दावे साहित्य के इजलास में स्वीकार भी किए जा रहे है। कुछ थोड़े से पुराने और कुछ नये-मेंचीदा दिमाग के लोगों की बात अलग है। किन्तु उनसे भी मैं यह पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करूंगा। प्रसाद जी एक नए साहित्य युग के निर्माता ही नहीं है एक नई विचारशैली और नव्य दर्शन के उद्भावक भी है। उनमें अपने युग की प्रगतिशीलता प्रचुरमात्रा में पाई जाती है, यही नहीं वे एक बड़ी हद तक भविष्य द्रष्टा और आगम के विधायक भी है। सभी महान् साहित्यकारो की भांति उन्होने अपने युग को प्रगतिशील शक्तियों को पहचाना और उन्हे अभिव्यक्ति दी। सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान सदैव नीचे स्तरो से ही होता है, इसलिए प्रसादजी ने बहिष्कृतों, अपाहिजो और विशेष कर अबलाओं का साथ दिया। प्रसादजी कोरी भावुकता मे डूबने वाले व्यक्ति नही थे, वे एक सजग द्रष्टा, लक्ष्य और उपाय-निरूपक स्मृतिकार भी थे। कलाकार की हैसियत से उन्होंने उदात्त और शक्तिशाली भावनाओं तथा जीवनमय चरित्रो का निर्माण किया है। प्रातःकालीन स्वच्छ वनवायु की भांति, प्रथम यौवन की मधुर कल्पना की भांति उन्होने साहित्य मे अपना आगम जनाया और क्रमशः गहनतर और उच्चतर भूमि पर पहुँचते गए। यदि वे कामायनी मे उच्चतम अध्यात्म की झलक दिखाते है तो वह भी जीवन की सर्वदिक अनुभूतियो के अंतराल से प्रकट हुए निष्कर्ष के रूप मे। वह किसी कोरे स्वप्नद्रष्टा की काल्पनिक अंधाधुंध उड़ान

नहीं है। प्रसादजी की सचेत और जीवन से जुड़ी हुई रचनात्मकता की प्रतिष्ठा सबसे पहले होनी चाहिए।

एक महाशय ने कह दिया कि प्रसादजी तो बाबा आदम के के जमाने के चरित्रों को अपने नाटकों मे रखते है—गड़े मुर्दे उखाड़ते हैं, तो दूसरे महाशय नई भाषा में कहने लगे प्रसादजी तो 'एस्केपिस्ट' हैं, जीवन से भागते हैं। एक तीसरे महाशय रहस्यवाद के नाम से ही इतने घबड़ा उठे कि प्रसादजी का सारा रहस्यवाद उन्हे रूढ़िवाद जँचने लगा। एक चौथे महाशय कुछ इधर-उधर की टोह लगाकर कहने लगे, प्रसादजी के साहित्य में मध्यकालीन विलास और खुमारी ही उन्हें मिलती है। बस समालोचनाओं का तांता इसी तरह बंध गया और लोग मनमानी हांकने लगे। जिन्हे छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठपोषक समझा जाता था वे समीक्षा के नाम पर बिल्कुल कोरे थे। वे समीक्षक नामधारी अपना स्वतंत्र गद्यकाव्य लिखने मे लगे हुए थे जिसे वे अपनी अल्पज्ञता के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठकों का भावुक दल उन्हे समीक्षक कह कर पुकारने भी लगा था। ऐसी स्थिति में प्रसादजी के साहित्य का ठीक ठीक सत्कार कैसे होता!

ऐसी ही स्थिति में मेरे ये निबंध लिखे गए हैं। इनमें मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि प्रसाद जी का साहित्य सच्चे अर्थ में नवीन जीवन से संबद्ध है और वह आधुनिक समस्याओं का हल भी उपस्थित करता है। वह साम्प्रतिक जीवन का उन्नायक

है। उनका नाटक-साहित्य इतिहास और 'रोमान्स' के भीतर से नई सांस्कृतिक जागृति मे सहायक हुआ है। यह बात साहित्य के विद्यार्थियो से छिपी नही है कि पश्चिमी सांस्कृतिक उत्थान ('रिनेसां') के प्रभातकाल मे भी ऐसी ही प्रवृत्तियां साहित्य में दिखाई दी थी। प्रसाद जी की आख्यायिकाएं या छोटी कहानियाँ कोमल, कल्पनाविशिष्ट किन्तु उत्थानमूलक भावनाओं से भरी पड़ी है। उनके दोनों उपन्यासो मे एक (कंकाल) रूढ़िवद्ध जाति-प्रतिष्ठा के विरुद्ध और दूसरा (तितली) उच्च वर्गीयता के विरुद्ध आन्दोलन करता है। तितली के नायक और नायिका दोनो ही श्रमिक वर्ग के हैं और यद्यपि वे कम्यूनिस्ट लेखको के इस श्रेणी के चरित्रो की भाँति कर्कश, संघर्षमय और घृणाभिभूत नही हैं फिर भी अपनी वर्गचेतना से रिक्त नही हैं और भारतीय श्रमिक की संस्कारी परंपराओं से युक्त हैं। और प्रसाद जी का काव्य चाहे उसे छायावाद कहिए या रहस्यवाद, मानवीय भूमि पर ही खड़ा हुआ है। अपने काव्य के लिए जो कतिपय दार्शनिक उद्‌भावनाएं उन्होने की हैं, उनसे यह आभास मिल जाता है कि प्रसाद जी शक्ति और आनन्द की ऊंची मानसिक अभिव्यक्ति को ही काव्य का मुख्य लक्ष्य मानते हैं। मै यह नहीं कहता कि प्रसाद जी की रचनाओं मे कही मानसिक शैथिल्य, खुमारी या ऐन्द्रिय विकार है ही नही, कतिपय क्षणो मे उन्होने जीवनसंघर्ष के प्रति भीरुता या पलायन का भाव भी प्रकट किया होगा, किन्तु उन्हे हम अपवाद-स्वरूप ही मान सकेंगे।

अवश्य प्रसाद जी का साहित्य 'रोमैन्टिक' या कल्पना-प्रधान श्रेणी में रक्खा जायगा किन्तु रोमान्स के अंतर्गत प्रगतिशील साहित्य भी आ सकता है और ह्रासशील भी। रोमैन्टिक नाम से ही कुछ-का-कुछ समझ बैठना ठीक नही। हमें साहित्य की परीक्षा उसमें निहित मनोभावना से ही करनी होगी। जो प्रगतिशील महानुभाव केवल ऊपरी दृष्टि से जीवन और साहित्य का ऐक्य देखना चाहते हैं, जो साहित्य की भावनात्मक गहराई में नही पैठना चाहते, जिनके लिए साहित्यिक प्रगति की पराकाष्ठा 'लाल तारा' तक पहुँच कर रह गई है और जो स्वभावतः 'रोमान्स' नाम से नफरत करने लगे हैं (मै कह सकता हूँ उनमे से बहुतो की नफरत केवल कागजी है) उन्हे मैं साहित्य का समीक्षक मानने से इन्कार करता हूँ। उन्हें चाहिए कि वे राजनीतिक गुटवंदी के भीतर ही अपने विचारों का आदान-प्रदान किया करें।

यहाँ मै उन असाहित्यिक प्रगतिवादियो के लिए उन्ही के एक गुरुदेव की संमति का कुछ अंश उद्धृत करूंगा जो उन्होने एक शताब्दी पूर्व के रोमान्सवादी कवि 'स्काट' के संबंध मे दी थी। ये उनके गुरुदेव साहित्यिक क्षेत्र से अधिक संबंध नही रखते फिर भी इनकी संमति काफी निष्पक्ष है। आप (मेरा मतलब महाशय हैवलक एलिस से है) लिखते है :—

"Scott's work is the outcome of a rich and generous personality endowed with an eager

imaginative receptivity. When he appeared he brought into the world what was, in effect, with all its imperfections, a new vision of the panorama of human life on earth. It has ceased to thrill by its novelity. But when it appeared it appealed mightily to grown men and women and influenced the course of literature everywhere. Half a century ago it was still a Paradise for the young. And now? Well, it remains a source of joy if you have the fine thirst do drink there.

Today I view Scott with more balanced judgment. His faults were many and his inequalities disconcerting : but the same may be said, I find, of the very different virtues and vices of the most modern men, D. H Lawrence or whom you will."

यह तो हुई 'स्काट' की बात। प्रसाद जी तो उसकी अपेक्षा बहुत आधुनिक है। वे कोरमकोर रोमान्सवादी भी नहीं, वे रहस्यवाद के ऊंचे समतल पर पहुँचते हैं और सबलतर भावना की सृष्टि करते है। मैं तो 'अध्यात्म' शव्द से नही घबड़ाता, क्योकि मैने 'अध्यात्म' का लेवल लगा हुआ उच्च काव्य पढ़ा है किन्तु जो इस नाम से ही इसे जीवन के बाहर की वस्तु समझ लिया करते है उनके आश्वासन के लिए मैने कहा है कि प्रसाद जी का

रहस्यवाद अथवा उनकी आध्यात्मिक अनुभूति मानव-जीवन व्यापार की नीव पर ही खड़ी है। आप नींव भी देख सकते हैं और प्रासाद भी (तब संभवतः आप प्रासाद को केवल आकाश की वस्तु समझना छोड़ें)। प्रसाद जी ने अपने काव्य की मानवीय नींव इसलिए स्पष्ट रूप में दिखाई है कि आध्यात्मिक उच्च भावना का व्यावहारिक या संसारी पहलू भी हम देख लें। बिना इसे देखे आज के पाठक को शायद सन्तोष न हो।

ऊपर मैने प्रसाद जी के काव्य की मानवीय नीव की बात कही है। आजकल जहाँ देखिए वहाँ मानवीय शब्द की भरमार हो रही है। सभी अपने काव्य को मानवीय करार देना चाहते हैं। फलतः 'मानवीय' शब्द इतना अनेकार्थी हो गया है कि उसे हम निरर्थक भी कह सकते हैं। बहुत से लोग मैथिलीशरण जी के काव्य मे मानवता का निरूपण देखते है। अवश्य, उसे हम अमानवीय नहीं कह सकते पर वह एक प्रकार की आश्रमवासिनी मानवता है। आश्रमवासी की सारी पवित्रता और सम्पूर्ण सरलता उसमें है। किन्तु उनका काव्य आधुनिक जीवनव्यापी संघर्ष से अनाक्रान्त और अपरिचित है। वे आज के साहित्यिक को उपदेश देते है कि वह दीन-दुखियो का कष्ट देखे और उसका प्रदर्शन काव्य मे करे। गुप्तजी शायद इस बात से सुपरिचित नही कि आज के साहित्यिक कर क्या रहे है। गुप्तजी एक युग पहले का मध्यवर्गीय सन्तोष हमे सिखाते हैं, उन्हे आज की आग का अंदाज नही है।

गुप्त जी की मानवता और उसकी समस्त भावना और

संस्कारों से भिन्न प्रसाद जी की मानवकल्पना है। प्रसाद जी दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टियो से मानव को जीवनसंघर्ष के लिए उद्यत कर देते है। वे कही कृत्रिम सन्तोष का पाठ नही पढ़ाते। प्रसाद जी नारी और पुरुष को समता और सहकारिता के सूत्र मे बाँधकर एक संघटित मोर्चा तैयार करते है (उनकी आख्यायिकाओ मे यह सूत्र हमे मिलता है और 'तितली' में मोर्चा तैयार है)। प्रसाद जी का मानव, धर्म की रूढ़ियो से छूटकर, आत्मा की अमरता की सीख लेता है और खुली आँखो सांसारिक स्थिति को देखता है। व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उठाने वाली आध्यात्मिकता और रहस्यभावना का प्रयोग जीवन से पराङ्मुख करने का साधन क्यो माना जाय ? गीता मे यही निरूपण अर्जुन को महाभारत के संघर्ष के लिए तैयार कर सका था।

जो लोग दुःख और अभाव की समस्या का वैज्ञानिक समाधान चाहते हैं वे इस आध्यात्मिक हल को कोई हल नही मानते। वे प्रत्यक्ष तथ्यवादी (पाजिटिविस्ट्स) उल्टा इसे असली प्रगतिशील समाधान को दूर घसीटने वाला करार देते है। असली प्रगतिशील समाधान है ९० प्रतिशत समस्याओं के लिए वर्गसंघर्ष और क्रान्ति, समाजिक विधिनिषेधो का परित्याग और नवीन प्रयोग। प्रसादजी का रहस्यवाद, चाहे उसे आंसू के पद्यो मे देखिए अथवा कामायनी के अंतिम सर्ग मे, मानसिक संतुलन के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। गीता मे भी रहस्यवाद या आध्यात्मिक समाधान सांसारिक द्वंद्व का प्रेरक ही सिद्ध हुआ है। हमे किसी

वस्तु से न चिढ़ कर उसके प्रयोग की परीक्षा कर देखनी चाहिए। तभी हम रचनाकार का ठीक उद्देश्य समझ सकेंगे।

रचनाकार की समसामयिक स्थिति से भी हमें अपरिचित नहीं रहना चाहिए। प्रसाद जी मुख्यतः साम्य, सख्य और स्वातंत्र्य (equality, fraternity and liberty) के कल्पनाशील आदर्शवाद से अनुप्रेरित थे। फिर भी उन्होंने एक भविष्यद्रष्टा की भांति आगामी वर्ग-संघर्ष का आभास दिया है। उन्होने एक कल्पनाप्रवण, सहानुभूतिशील, और अग्रगामी मध्यवर्ग के चित्रण से आरंभ कर श्रमिक दंपति के चरित्रनिर्माण तक अपना कथानक साहित्य पहुँचा दिया है। कामायनी काव्य मे उन्होंने एकांगी भौतिक प्रगति और संघर्ष का विरोध अवश्य किया है किन्तु इस संबंध में हमे आगे कुछ और कहना है। यहां इतना ही कहेगे कि प्रसाद जी कम्यूनिस्ट उपचारो को कट्टरपन के साथ ग्रहण नही करते किन्तु अपने युग की प्रगति मे वे पिछड़े हुए नहीं थे।

इस प्रश्न को इस हद तक बढ़ाना इसलिए आवश्यक था कि आजकल 'रोमान्स' और 'रहस्यवाद' का नाम देकर प्रसाद जी के साहित्य के प्रति विरक्ति उत्पन्न की जाती है। यह विरक्ति अस्पृश्यता की सीमा तक पहुँच जाती है और हम प्रसादजी का वास्तविक ऐतिहासिक मूल्य आंकने से भी विरत रह जाते हैं। कुछ लोग तो साहित्यिक और कलात्मक उत्कर्ष की ओर ध्यान न देकर, जीवनमय चरित्रों के निर्माण से बहुत दूर रहने वाले

लोकपीटक संघर्षवादी को साहित्य-शिरोमणि करार देने लगे हैं।
ये लोग अपने को साहित्य और जीवन का समन्वयकारी समझते
है किन्तु इन्हे यह पता नहीं कि साहित्य मे जीवन केवल कुछ
सैद्धान्तिक नुस्खों और कुछ चुने-चुनाए वाक्यांशों को नही कहते,
उसकी और भी गहरी सत्ता है। न इन लोगो को यही मालूम है
कि साहित्य के भीतर प्रगतिशील जीवन की सृष्टि कैसे की जाय।
राजनीतिक प्रगतिशीलता का काम नुस्खो से चल सकता है पर
साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवन को गहराई मे बिना प्रवेश किए
नही आती। फल यह होता है कि राजनीतिक सिद्धान्तवादी
अपने नपे-तुले नुस्खे न देख कर प्रौढ़, जीवनमय साहित्य का
निर्माण करने वाले साहित्यिको के प्रति नाक भौह सिकोड़ लेते
है और इस प्रकार साहित्य मे जीवन के संनिवेश की समस्या
को गहरी गलतफहमियो मे डुबो देते हैं। यदि मुझे क्षमा किया
जाय तो मै कहूँगा कि पुरानो मे श्री रामनरेश त्रिपाठी और ठाकुर
श्रीनाथ सिह तथा नयो मे बहुत अंशो तक स० ही० वात्स्यायन
आदि इसी श्रेणी के साहित्यिक और समीक्षक हैं।

कला और साहित्य मे प्रगतिशील निर्माण की समस्या उस
प्रगतिशीलता से बिल्कुल भिन्न है जिसे हम एक नवीन दार्शनिक
सिद्धान्त या उपचार के रूप में जानते है। दोनो को एक ही लाठी
से नही हांका जा सकता। साहित्य मे जीवन की वास्तविक रचना
करनी होती है अतः उसकी प्रगतिशीलता की माप जीवन-
निर्माण की सफलता और असफलता के आधार पर होगी।

साहित्य में प्रगतिशीलता का स्वरूप सिद्धान्त-निरूपण और नपे-तुले हलों द्वारा नहीं जाना जायगा। उसमें तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदंड होंगे। जीती जागती बहुरूप जीवन परिस्थिति का प्रदर्शन उसके लिए आवश्यक है। साहित्यकार बाध्य नहीं है कि वह प्रगतिशील नामधारी एक दार्शनिक उपक्रम का अनुगामी हो। यदि उसने पतनोन्मुख समाज के जीवंत चित्र हमारे सामने उपस्थित किए हैं और यदि वे अपना ईप्सित प्रभाव हम पर छोड़ जाते हैं तो हम उस कलाकार को अप्रगतिशील नहीं कहेंगे।

प्रसाद जी तो विकासशील और उदार सामाजिक प्रवृत्तियों के निरूपक हैं। उनकी साहित्य सृष्टि एक आशावादी और स्वातंत्र्य प्रेमी युग की प्रतिनिधि है। साहित्यिक अर्थ में उनका साहित्य सर्वथा प्रगतिशील है।

मैथिलीशरण जी जिस पूर्व युग के प्रतिनिधि हैं उससे भिन्न युग की काव्य-सृष्टि प्रसाद जी की है, इस बात की पुष्टि के लिए दोनों की दो-चार चुनी हुई रचनाओं की बानगी देख लेना काफी होगा। गुप्त जी की प्रतिनिधि रचनाओं का चुनाव श्री प्रोफेसर अमरनाथ झा ने एक स्थान पर दिया है, इससे हमारा काम और भी सरल हो गया है। गुप्त जी की शैली का विकास उन्होंने इन उद्धरणों में दिखाया है—

अहा ग्राम्यजीवन भी क्या है,
क्यों न इसे सबका मन चाहे।

थोड़े में निर्वाह यहां है,
ऐसी सुविधा और कहां है।

× × ×

वे मोह-बंधनमुक्त थे,
स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे।
संपूर्ण सुख संयुक्त थे,
वे शान्ति शिखरासीन थे।
मन से, वचन से, कर्म से,
वे प्रभु भजन मे लीन थे।
विख्यात ब्रह्मानन्द नद के,
वे मनोहर मीन थे।

× × ×

ये गगनचुंबित महा प्रासाद,
मौन साधे हैं खड़े सविषाद।
शिल्प कौशल के सजीव प्रमाण,
शाप से किसके हुए पाषाण।
या अड़े हैं मेटने को आधि,
आत्मचिन्तन रत अचल ससमाधि।
किरणचूड़ गवाक्ष लोचन मीच,
प्राण से ब्रह्माण्ड में निज खीच।

× × ×

प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं
यह नश्वर तनु लेकर कैसे,
स्वागत सिद्ध करूंगी मैं।
नश्वर तनु पर धूल किन्तु,
हाँ उन्हीं पदों की धूल
कर्मबीज जो रहे मूल मे
उनके सब फल-फूल,
अर्पण तुम्हें करूँगी मैं,
प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं।

× × ×

अब यदि इन्हे हम औसत तौर पर गुप्तजी की प्रतिनिधि रचना मान लें तो हम देखेंगे कि इनमे एक विनयपूर्ण सीधा सादा आदर्शवाद जिसमें आरंभिक राष्ट्रीयता का मीठा-मीठा स्पंदन है, कल्पना की ऊँची उड़ानों से रहित अनुभूति, द्वंद्वरहित भाव और एकहरी अभिव्यक्ति है। इसमें किसी जीवनतत्त्व का वैषम्य, आलोड़न-विलोड़न, संशय और तज्जनित भावोत्कर्ष आयोजित नहीं है। सीधा रास्ता, सीधी समस्या और सीधा समाधान। किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह सिधाई आश्रमवासिनी सिधाई है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ प्रेमचंद जी की भी सफलता इसी प्रकार की सीधी समस्याओं के समाधान में है जो छोटी कहानियों में समा सकी है। कहानियों के निर्माण मे साधारण उत्थान-पतन भावो का आरोह-अवरोह, स्थितियों का वैचित्र्य

दिखा सकना, ये प्राथमिक सफलताएँ उनकी हैं। बड़े जीवन-चक्रों को हाथ में लेना, पेचीदा भावधाराओं और सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उठी हुई जटिल समस्याओं का निरूपण करना, व्यक्ति देश और जाति के जीवन के वृहत छाया-आलोकों को उद्घाटित कर सकना, सारांश यह कि जीवन के गहरे और बहुमुखी घात-प्रतिघातों और विस्तृत जीवन दशाओं में पद-पद पर आने वाले उद्वेलनों को चित्रित करना, उन्हे सँभालना और अपनी कला में उन सब को सजीव करना गुप्त जी और प्रेमचंद जी की साहित्य सीमा के बाहर है। प्रसाद जी की अनुभूति तथा सूझ अधिक गहरी और उनकी कलात्मक प्रतिभा अधिक ऊँची अवश्य है, यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि उन्होने युगजीवन के उद्घाटन में संपूर्ण सफलता प्राप्त की ह।

प्रसाद जी की रचनाओं से भी मैं चार ही पाँच उद्धरण दूँगा :—

वे कुछ दिन कितने संदर थे,
जब सावन-घन सघन बरसते
इन नयनों की छाया भर थे।

× × ×

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को
मिलता एक सहारा।

सरस तामरस गर्भ विभा पर
नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर
मंगल कुंकुम सारा।

× × ×

वह सारस्वत नगर पड़ा था
क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना।
जिसके ऊपर विगत कर्म का,
विष विषाद आवरण तना।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह
तारा नभ में टहल रहे।
वसुधा पर यह होता क्या है,
अणु अणु क्यों हैं मचल रहे।
निशिचारी भीषण विचार के
पंख भर रहे सर्राटे।
सरस्वती थी चली जा रही
खींच रही सी सन्नाटे।

× × ×

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पग में,
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।

लाली बन सरल कपोलों में,
आँखों में अंजन सी लगती।
कुंचित अलकों-सी घुँघराली,
मन की मरोर बन कर जगती।
चंचल किशोर सुंदरता की,
मै करती रहती रखवाली।
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानो की लाली।

× × ×

तुम कनक किरण के अंतराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते
जीवन के घन रसकन ढलते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यो?

ये प्रसाद जी की औसत रचना के उदाहरण हैं और गुप्त जी के उद्धृत अवतरणों से मिलते-जुलते विषयों पर चुने गए हैं। पाठक देखेगे कि इनमें एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है। ये ही काव्य में छायावाद के उपकरण बन कर आए। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में एक

स्वातंत्र्यलालसा, शक्ति की अभिज्ञता, और सांस्कृतिक द्वंद्व की एक अनिर्दिष्ट स्थिति देख पड़ती है। ये सभी एक कल्पनाविशिष्ट दर्शन के अंग बने हुए हैं जिसमे बड़ी व्यापक सहानुभूतियाँ हैं। इस नवीन दर्शन में कल्पना, भावना और कर्मचेतना की सम्मिलित झाँकी है। इसे अकेले कर्मसंघर्ष से सम्भूत दर्शन हम नहीं कह सकते। यह उसका पूर्वरंग अवश्य कहा जायगा। इसमें कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियो को प्रमुखता दी गई है। कामायनी काव्य मे इड़ा के प्रतीक द्वारा जिस संघर्ष-प्रधान, कर्मप्रमुख जीवन उपक्रम का प्रदर्शन कराया गया है उसकी पूर्ण स्वीकृति न तो कामायनी में है और न छायावाद काव्य मे ही। किन्तु गुप्त जी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी सादो भावव्यंजना के कई कदम आगे वह अवश्य है।

इस छायावाद को हम पंडित रामचंद्र शुक्ल जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमे एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है।

प्रसाद जी के साहित्य की दार्शनिक सीमा-रेखा और भी स्पष्ट हो जाय इस दृष्टि से मैं कामायनी काव्य में आए हुए श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों को नए सिरे से आपके सम्मुख रखना चाहूँगा। कामायनो काव्य मे दो पीढ़ियो के चार चरित्र है। पहली पीढ़ी मनु और श्रद्धा की है जो काव्य के नायक-नायिका है और दूसरी

पीढ़ी श्रद्धा-पुत्र और इड़ा की जोड़ी बन कर चलती है। इन दोनों पीढ़ियों मे कुछ हद तक खींचतान भी है। मनु को सारस्वत या बौद्ध प्रदेश का पुनरुत्थान करने मे लगा कर फिर उसके दुष्परिणामो से उन्हे अभिभूत कर दिया जाता है। प्रसाद जी अपने काव्य का अधिनायकत्व श्रद्धात्यागी और इड़ासेवी मनु को नहीं देते, वे उसे रास्ते पर लाते हैं। फिर दूसरी पीढ़ी से उनकी संतति भी श्रद्धा और बुद्धि के सम्मिलित योग से नवीन जीवनक्रम चलाती है।

वन्य या ग्राम्यजीवन से आरंभ होकर कामायनी काव्य की प्रगति नागरिक सभ्यता और नवीन औद्योगिक आयोजनों तक होती है। प्रसाद जी यद्यपि यह स्वाभाविक विकास दिखाने में अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय देते हैं किन्तु वे औद्योगिक संघर्ष को यथार्थ और अनिवार्य रूप मे नहीं लेते। वे उससे उत्पन्न होने वाले द्वंद्व का समाधान करने के लिए श्रद्धा-पुत्र को छोड़ जाते हैं, इससे पष्ट है कि वे श्रद्धा और बुद्धि दो वस्तुओं के संतुलन मे इस समस्या का समाधान देखते हैं।

मैंने कामायनो की आलोचना मे यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनकी दृष्टि समन्वय चाहती है और वे संघर्षात्मक जीवन दर्शन के अनुयायी नहीं हैं। अब, मेरे सहृदय और विचक्षण काव्यपारखी मित्र श्री इलाचंद्र जोशी श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों द्वारा व्यंजित दो जीवनदृष्टियों को विरोधी शिविरो मे रखते हैं और श्रद्धा को अतिशय कल्याणीया, अनन्त करुणामयी,

मंगल अभिषेकमयी आदि कह कर ग्रहण करते हैं और इड़ा को उन्मत्त लालसा प्रज्वालिनी, अनन्त अतृप्ति प्रदायिनी आदि रूपों में देखते हैं। किन्तु इसी 'उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी' को मनु अपने पुत्ररत्न की सहचरी बनाते हैं। स्पष्ट है कि प्रसाद जी सभ्यता के इस बुद्धिवादी विकास को लांछित नहीं करते, न उसकी वास्तविकता से आँखें मूंदते हैं, किन्तु वे एक समन्वय सूत्र हमारे सामने रखना चाहते हैं।

इस संबंध में मुझे अपने मित्र हिन्दी के सुपठित मनोविश्लेषक और काव्यालोचक श्री नरोत्तम प्रसाद नागर की उद्भावना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। वे पूछते हैं, श्रद्धा करुणामयी कहाँ है—जब कि वह इतनी असहनशील है? इड़ा यदि नारी होने के कारण ही उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी हो तो इसमें उसका क्या दोष? और श्रद्धा का भी यही स्वरूप (बल्कि इससे अधिक उन्मत्त लालसामय) पुस्तक के प्रारंभिक सर्गों में देखा जा सकता है। इड़ा तो मनु को सच्छिक्षा ही देती है, उस बेचारी का अपराध क्या है?

मनु और इड़ा के संबंध को प्रसादजी ने मनुपुत्र और इड़ा के संबंध में परिणत कर दिया है। इससे इड़ा का त्याग नहीं, ग्रहण ही सिद्ध होता है। हाँ, प्रसाद जी का मनु को श्रद्धा के साथ एकान्त मानस प्रदेश की ओर ले जाना और वहाँ भाँति-भाँति के दृश्यों के बीच 'कर्म' 'भावना' और 'चेतना' के तीन गोलक दिखाना तथा उनके वैषम्य को मिटा कर उन्हें समन्वित कर देना

प्रसाद जी के समन्वयवाद का द्योतक है। वैज्ञानिक प्रगतिवाद की दृष्टि से प्रसादजी यहीं प्रवृत्तिमूलक वैज्ञानिक और बौद्धिक विचार-धारा से पृथक हो गए हैं। किन्तु मेरा यह कहना है कि बुद्धि की अति और उसके अवश्यम्भावी विकारों का ही प्रतिषेध प्रसाद जी ने किया है और यह उनकी मूल आध्यात्मिक विचारणा के अनु-कूल ही है।

वैज्ञानिक संघर्षात्मक प्रवृत्ति दर्शन ही आधुनिक प्रगतिशील साहित्य के मूल मे है। प्रसाद जी इस दर्शन के साथ सारी दूरी तक नहीं जाते किन्तु इस कारण कोई उन्हें अप्रगतिशील नहीं कह सकता। साहित्य में उन्होने जागृति की मनोरम और प्रगतिमयी भावनाओं का ही विन्यास किया है, उषःकाल की प्रभाती ही गाई है, कल्पना का प्रयोग नवीन शक्ति और नव सौन्दर्य की सृष्टि में ही किया है। मै कह चुका हूँ कि साहित्यिक प्रगति और दार्शनिक प्रगतिवाद दो भिन्न वस्तुएँ है और यह आवश्यक नहीं कि साहित्य किसी विशेष दार्शनिक मतवाद से बँधकर ही प्रगतिशील कहलाए। इतना कहने के पश्चात् यह स्वीकार करने मे हमे कोई आपत्ति नहीं है कि प्रसाद जी ने नवीन संघर्ष से उत्पन्न भौतिक विकास-वादी दर्शन को संपूर्ण स्वीकृति नही दी है। संक्षेप मे प्रसादजी की साहित्यिक और दार्शनिक स्थिति यही है।

अब प्रसाद जी की शैली, वस्तु संघटन और कथानिर्माण के पक्ष पर दो शब्द कहके मैं इस निबंध को समाप्त करूंगा। इस संबंध में अधिकांश समीक्षकों का कथन रहा है कि उनकी शैली

जटिल और दुरूह है तथा उनका वस्तुविन्यास शिथिल और बोझीला है। उनके नाट्यसमीक्षक श्री कृष्णानन्द गुप्त ने इस विषय की विशेष शिकायत की है। कृष्णानन्द जी यदि इब्सन, या डी० एल० राय की शैली के प्रभाव से मुक्त होकर प्रसाद जी की नाट्यशैली की स्वतंत्र परीक्षा करते तो अधिक अच्छा होता। प्रसाद जी की भाषा और अभिव्यक्ति में जटिलता उन्हें अधिक दीखी है जिन्हें यह नहीं दीखा कि प्रसादजी किन नवीन समस्याओं के संपर्क में थे और किस नवीन विचारणा तथा भावलोक का निर्माण कर रहे थे और इस कार्य में उनकी कठिनाइयां कितनी थीं। फिर क्रमविकास की दृष्टि से भी उन्होंने प्रसाद जी की परीक्षा नहीं की। क्रमशः प्रसाद जी भाषा के सारल्य और भावों के नैसर्गिक निर्माण और उत्कर्ष की ओर बढ़ते गए हैं, यह भी उन्हें देखना चाहिए। कथानक के कलात्मक निर्माण के संबंध में हम इतना ही कहेंगे कि प्रसाद जी अपने समसामयिक हिन्दी रचनाकारों के समकक्ष हैं। यदि उनमें बहुत बड़ी 'एनजीनियरिङ्ग' करामात हमें नहीं मिलती तो हम स्मरण रक्खेंगे कि वे किन नवीन प्रयासों मे व्यस्त थे। और हमे यह भी नही भूलना होगा कि प्रसाद जी नई कला प्रणाली की अपेक्षा नई भावना और नई चिन्तना के निर्माण-कार्य में अधिक संलग्न थे। साथ ही हम यह भी कहेंगे कि नई भावधारा आरंभ में पाठकों के लिए विचित्र और बेपहचान होती है। वे शिकायत करने लगते हैं भाषा की और उसकी जटिलता की। क्रमशःवह शिकायत घटती जाती है

और हम उस भावधारा को अपना लेते हैं। तब भाषा और शैल
संबंधी आरोप भी कम हो जाते है। यही बात प्रसाद जी के सम
चकों के संबंध में भी चरितार्थ हुई है।

किन्तु इसका यह आशय नही कि हम प्रसादजी की त्रुटिय
पर लीपापोती करें और उनके ऐसे गुणो की स्थापना करें जिनक
अस्तित्व नही है। उनके गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर उपस्थित कर
भी अनुचित होगा। वे जितने हैं और जो कुछ हैं हमे उतने
ही प्रयोजन है। उतने गुणों में भी वे महान् और युग-प्रवर्त
सिद्ध हैं। 'कंकाल' की कथा-रचना में बहुतों को शिकायत है f
प्रसाद जी ने अपने कुछ विचारों को व्यक्त करने के लिए ही य
कथा रची है, इसलिए कथा की दृष्टि से वह सफल नही हो पाई
चरित्रो का निर्माण इसी कारण यथेष्ट सजीव नहीं हो पाया
संभव है ये त्रुटियां किसी हद तक 'कंकाल' मे हो (यद्य
चरित्र निर्माण के संबंध मे मै यह नहीं कह सकूंगा कि वे सजी
नही हैं) किन्तु ये त्रुटियां उन सभी साहित्यकारो में किसी-
किसी मात्रा मे पाई जाती है जिनका उद्देश्य मुख्यतः नई सांस
तिक विचारधारा का साहित्य में प्रवेश कराना होता है। ऐ
थोड़े कलाकार मिलेगे जो कथा के कलात्मक निरूपण, चरि
निर्माण और विशिष्ट चिन्ताधारा के संनिवेश मे समान रूप
सफल हुए हो। प्रसाद जी को जितनी सफलता इस कार्य
मिली है वह अपने मे कम नही है। समय को देखते हुए (हिन

अंत में मैं फिर कहूँगा कि साहित्य का क्षेत्र स्वस्थ और सबल भावनाओं के सृजन का क्षेत्र है। अस्वस्थ और निर्बल भावनाओं का चित्रण भी नेगेटिव या अपर पक्ष को दिखाने के लिए किया जा सकता है। किन्तु उसे 'आदर्श' मान बैठना रास्ते से भटक जाना है। समय के प्रवाह के साथ नई विचारधाराएं और नवीन जीवन दर्शन साहित्य में समाविष्ट होते हैं। समाज के परिवर्तन शील स्वरूपों पर साहित्यकार को सूक्ष्म निगाह रखनी होती है और उन नवीन विचारधाराओं और जीवन दर्शनों को विवेक या (Discrimination) के साथ ग्रहण करना पड़ता है। साहित्यकार अपने युग की बहुमुखी सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं का प्रदर्शन करता है और उनके संबंध में प्रचलित प्रतिक्रियाओं का निरूपण कर दिखाता है। कभी कभी वह अपने स्वतंत्र समाधान भी उन समस्याओं के संबंध में उपस्थित करता है और कभी कभी तटस्थ दृष्टि से उनका चित्रण कर देना पर्याप्त समझता है। कभी सामयिक हीनताओं के प्रति परिहास और आवर्जना प्रकट करने में वह नहीं हिचकता और कभी गुमसुम रह कर पाठकों को अपना निष्कर्ष आप निकालने के लिए छोड़ देता है।

इस सब के लिए अतिशय आवश्यक है कि साहित्य का स्रष्टा युग के विकासोन्मुख जीवन और प्रवृत्तियों का अनुभवी और हिमायती हो। इससे भी अधिक उसमें वह ऊँची प्रतिभा होनी चाहिए कि वह न केवल जीवन विकास का साक्षात्कार कर सके बल्कि

ललित, उदात्त और सुग्रथित कल्पनाओं और रचना शैलियों द्वारा उनका साक्षात्कार पाठकों को भी करा सके। उसे विवेकवान और पारदर्शी ही नहीं, काव्य शक्ति से भी संपन्न होना चाहिये। प्रसाद जी न केवल इन दोनो गुणों से युक्त थे, ऐसी असाधारण क्षमता इनमे रखते थे कि उतनी क्षमता का कोई दूसरा कलाकार हिन्दी साहित्य के इस युग में दिखाई नही देता। इस प्रकार वे युग के प्रवर्त्तक ही नही उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति भी सिद्ध होते है। इन निबंधो मे उनके काव्यगुणों की विशेष चर्चा नहीं की जा सकी है। इनमें तो उनकी साहित्यिक भावना के विकास, उनकी सामाजिक विचरणा और दार्शनिक प्रवृत्तियों का ही उल्लेख किया गया है। उनके काव्यगुणों की चर्चा यहाँ हमारा उद्देश्य नही रहा है। इसके लिए तो स्वतंत्र प्रयास की आवश्यकता होगी।

जयशंकर प्रसाद

आरंभिक काव्य-विकास

नवीन युग की हिन्दी कविता की वृहत्त्रयी के रूप में श्री जय-शंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री सुमित्रा-नन्दन पंत की प्रतिष्ठा मानी जाती है। उनसे पीछे के कवियों में कतिपय ऐसे हैं जो उनकी स्पर्द्धा करते हैं और पूर्ववर्ती कवियो मे भी दो-एक अपने रचनाविषय को उनकी पंक्ति में रख कर खड़े हुए है, परन्तु परवर्तियो की स्पर्द्धा अब तक सफल नहीं समझी गई और पूर्ववर्तियो का प्रयास भी भाषा और भाव के क्षेत्रों मे अधिकतर अनुकरण ही माना गया है। यह नही कहा जा सकता कि इस प्रकार की समझ कहां तक ठीक है, पर यह तो निश्चय है कि उपर्युक्त वृहत्त्रयी ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी काव्य मे युगान्तर उपस्थित कर चुकी है। यह कविता के अंतरंग और बाह्यांगो की मौलिक सृष्टि करके साहित्य-समाज के सामने आई। इनमे भी ऐतिहासिक दृष्टि से जयशङ्कर प्रसाद जी का कार्य सब से अधिक विशेषतासमन्वित है। उन्होने कविताविषय का सब से प्रथम रसमय बनाया, कल्पना और सौन्दर्य के नए स्पर्श अनुभव कराए। उनके पूर्व के हिन्दी कवि, प्राचीन शृंगारी कवियो के शृंगार से इतना भयभीत-से हो गये थे कि वे उसे स्पर्श करने मे ही संकोच मानने लगे थे। काव्य मे मधुर

भावो का प्रवेश सशंक दृष्टि से देखा जा रहा था, जिसके कारण कविता के प्रति आकर्षण की कमी हो रही थी। समालोचकों ने लिखा है कि आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी पर मराठी भाषा का प्रभाव था और मराठी की पदावली स्वभावकर्कश थी। उनका कथन है कि द्विवेदी जी तत्कालीन हिन्दी कविता के अध्वर्यु थे इसलिए मराठी की उक्त कर्कश पदावली हिन्दी मे भी आ गई। परन्तु इस प्रकार के आरोप विशेष संगत नहीं समझ पड़ते। आचार्य द्विवेदी जी पर मराठी से कही अधिक संस्कृत का प्रभाव था और वे हिन्दी के नेता होते हुए भी कविता के डिक्टेटर उस अर्थ में नहीं बने जिस अर्थ मे मुसोलिनी इटली का डिक्टेटर है। इसलिए ऐसा कहना कदाचित् भ्रमपूर्ण होगा कि मराठी के प्रभाव और हिन्दी मे द्विवेदी जी के नेतृत्व के कारण नीरसता का प्रसार हो रहा था। यह कहना भी समुचित नहीं कि हिन्दी की तत्कालीन कर्कशता खड़ी बोली के व्यवहार के कारण थी। यदि थोड़ासा ध्यान देकर देखा जाय तो समझ में आ जायगा कि खड़ी बोली का व्यवहार, मराठी का प्रभाव आदि हिन्दी की तत्कालीन कठोरता के कारण नहीं थे वरन् वे स्वयम् लक्षण थे जिनका कारण तत्कालीन वातावरण मे ढूंढ़ना चाहिये।

हम उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दी के द्विवेदी युग के साहित्यिकों को शृंगारी कविता के प्रति स्वभावसिद्ध शंका रहती थी। उस समय की यत्किंचित शृंगारोन्मुख रचनाएं देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविगण कितना भयभीत हो कर, फूंक फूंक

कर, कदम रखते थे। अभी उस दिन हम 'कविता-कलाप' नाम का आचार्य द्विवेदी जी कृत संग्रह देख रहे थे जिसमें 'महाश्वेता' आदि कितने ही स्त्री-चरित्रो पर कविताएँ लिखी गई हैं। हमने देखा कि सर्वत्र संकोच के कारण कविताएँ त्रुटिपूर्ण हो गई है। अधिकतर एक कृत्रिम उपदेश को भावना लिए हुए नारी का सौन्दर्याङ्कण किया गया है और वह सौन्दर्य वहुत ही स्थूल, वाह्य-रेखा बद्ध और नपातुला हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि कवियो ने शृंगार-विषय को काव्यवस्तु बनाने की प्रवृत्ति ही क्यों दिखाई! शायद वह प्रवृत्ति मनुष्यता की अनिवार्य माँग है। जब वह अनिवार्य है तो शृङ्गार यदि विष भी हो तो भी उसे शोध कर गुणकारी बनाना चाहिए था। किन्तु वह गुणकारी किस प्रकार बन सकता है इसकी विधि द्विवेदी-काल के साहित्यसेवियों को निश्चयपूर्वक मालूम न थी। स्मरण रखना चाहिए कि वह ऋषि दयानन्द के आर्य-समाज का युग था जिसकी विशेषता संघर्ष बतलाई जाती है। चित्रकला मे रविवर्मा उस काल के प्रतिनिधि थे। उनकी भी रुखाई हम लोगों को मालूम ही है। उस समय लोग घर मे लड़ाई कर के बाहर देशप्रेम जनाने मे गौरव का अनुभव करते थे। नारी के प्रति न तो प्राचीन महाकाव्यों का सा औदात्य, न कादंवरी का सा सहज स्वातंत्र्य और न पाश्चात्य यथार्थोन्मुख रचनाओ की सी अकृत्रिम भावना व्यक्त हो सकी। बहुत से कवि जीवन के व्यापक क्षेत्र से हट कर डिप्टी कलक्टरो और तहसीलदारों को 'जुग जुग जिलाने'

में ही लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में जब कभी कविगण अपने हृदय की टोह लगाते होंगे तब अपनी रचनाओ मे एक अपूर्णता और कृत्रिमता का अनुभव अवश्य करते होंगे। शायद यही अनुभव कर वे प्राचीन रसमय संस्कृत काव्यों का अनुवाद करने को प्रेरित हुए। श्री श्रीधर पाठक ने इसी समय के लगभग कुछ अंग्रेजी कविताएँ पढ़ी और हिन्दी में उन्हे उद्धृत किया। परन्तु अनुवाद तो आखिर अनुवाद ही है।

एक और बात भी ध्यान देने लायक है। व्रजभाषा मे उस समय शृङ्गारिक समस्यापूर्तियाँ हो रही थी जिनके विरुद्ध खड़ी बोली मे एक आन्दोलन ही चल उठा था। इन समस्यापूर्तियो मे भी ऊपरी हावों-भावों, बाहरी मुद्राओं और स्थूल इंगितों की ही प्रधानता रहती थी। उधर उन लोगो ने शृंगार के अतिरिक्त सब कुछ अस्पृश्य समझ लिया और उसे कोरी शारीरिक वर्णना तक ही सीमित रक्खा इधर इन लोगों ने शृङ्गार को ही अस्पृश्य समझ लिया और उसका या तो त्याग ही कर दिया था उसे उपदेशात्मक काव्य का विषय बना डाला। वे लोग प्राचीनता-वादी हो गए, ये लोग नवीनतावादी। उन लोगों को यह शऊर नही था कि शृङ्गार का संस्कार करते, इन लोगो को शृङ्गार नाम से ही इतनी चिढ़ हो गई थी कि उसके संस्कार की कल्पना भी न कर सके। एक प्रकार का द्वंद्व युद्ध चल रहा था जिसमें विवेक का प्रायः दोनो ओर से अभाव था। तथापि नवीन नवीन ही है और प्राचीन प्राचीन ही। सामयिकता की ओर प्रायः सब

की रुचि होती है। द्विवेदीयुग अपनी नवीनता के कारण सम्मानित हुआ। नवीन युग का उत्साह नवीन कविता में अवश्य देखा गया, पर जीवन के अंतरंग को स्पर्श करने वाली वास्तविक काव्यसृष्टि कम ही हो सकी।

एक चौथी बात और है। हिन्दी में द्विवेदी युग गद्य के अभ्युदय का युग था। विचारो का प्रकाश जितना गद्य मे प्रकट होता है उतना पद्य मे कठिनाई से हो सकता है। समूह की भाषा गद्य की ही हो सकती है, और उस समय समूह को भाषा की आवश्यकता थी। काव्य के द्वारा तर्क नहीं किया जा सकता, पर उस समय लोग तर्क पसंद करते थे। अभ्युदयशील जनतावाद के युग मे पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही है, वही किया भी गया। सिद्धान्तो की चर्चा के लिए, साधारण विचार व्यक्त करने के लिए, वक्तृताओ के लिए गद्य का सभी लोग प्रश्रय लेते है, उस युग के भी साहित्यिको ने लिया। आचार्य द्विवेदी जी की अधिकांश प्रतिभा गद्यशैली की स्थापना में ही व्यय हुई। छंद की ओर उतना ध्यान नहीं रहा जितना व्याकरण की ओर। काव्य संगीत को छोड़कर साहित्यिको ने गद्य प्रवाह का पल्ला पकड़ा। कोई नहीं कह सकता कि वे अपने कार्य मे असफल हुए। कुछ ही वर्षों के प्रयास से उन्होने हिन्दी में गद्यशैली की ऐसी सुदृढ़ स्थापना कर दी जिसका लोहा अब भी माना जाता है। कविता के क्षेत्र मे द्विवेदी युग का अतिक्रमण किया जा चुका है। विचारों की दुनियाँ भी आगे बढ़

चुकी है, पर गद्यशैली तो उसी युग की अब भी चल रही है। आज भी आचार्य द्विवेदी जी गद्य के सब से बड़े अधिष्ठाता माने जाते हैं। जिस प्रकार काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग सामयिक वातावरण का एक लक्षण मात्र था, उसी प्रकार गद्य का विकास भी। उसी वातावरण में रविवर्मा के चित्रों का सार्वदेशिक सम्मान हो रहा था। उस वातावरण को हम एक प्रकार का सामूहिक पवित्रता-वादी, नवोत्साहपूर्ण वातावरण कह सकते हैं, जिसमें स्थूलता और कृत्रिमता की छाप भी देखी जाती है।

सब लोगों को इस प्रकार का वातावरण रुचिकर नहीं होता। यदि कुछ लोग सिद्धान्त निरूपण और तर्क पसंद करते हैं तो सब लोग नही कर सकते। गद्य का चमत्कार उन्हींके कानों में संगीत से बढ़ कर आनन्द उत्पन्न कर सकता है जिनकी वैसी अभिरुचि हो। बहुत से ऐसे आदमी मिलेंगे जो श्री महावीर प्रसाद द्विवेदीके गद्यसौन्दर्य को श्री सुमित्रानन्दन के छन्दों से अधिक पसंद करे पर बहुत से ऐसे नही भी मिलेंगे। 'कविता-कलाप' की रचनायें तो आज बहुत ही कम रुचिकर लगेंगी, उसकी शृंगार संबंधी कविताएं तो निम्न कोटि की समझ पड़ेंगी। उनमें कवियों का हृदय खुल कर कल्पना और भावना की तरंगों मे बहा ही नहीं। जिन्होने रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' पढ़ी है फिर 'कविता कलाप' की 'तिलोत्तमा' आदि का वर्णन पढ़ा है वे यह समझ लेंगे कि द्विवेदीयुग कविता के लिए कितना अनुपयोगी और अनुर्वर था। यदि काव्य के लिए अनुपयोगी न होता तो शायद इतने अल्प समय

में गद्य की इतनी सुन्दर प्रतिमा खड़ी न की जा सकती। कविता के लिए अनुपयोगी हो, तो भी हिन्दी के लिए वह सुयोग ही था।

उस समय की प्रचलित कविता की दिशा बदलने मे अग्रणी श्री जयशंकर प्रसाद ही ठहरते हैं। श्री श्रीधर पाठक की अनुवादित कृतियों के अतरिक्त उनकी अन्य रचनाएं प्रसाद जी के पहले की नहीं हैं। कवि श्री रत्नाकर प्राचीन पौराणिक कथा-वस्तुओं को लेकर आलंकारिक रचनाएं कर रहे थे। उनकी भाषा पुरानी और काव्य-संस्कृति मध्यकालीन थी। नवीनता केवल नवीन रूपको, अलंकारो और प्राचीन भावों को नवीन उक्तियो से सज्जित करने में थी। आप कह सकते है कि कथानक के प्राचीन होने से क्या उनका चित्रण नवीन नही हो सकता! हो सकता है, जैसा मैथिली शरण जी के 'साकेत' आदि काव्यो मे हुआ भी है, किन्तु रत्नाकर जी की वह दृष्टि नही थी। वे प्राचीन आत्मा मे नव्य प्रकृति का संनिवेश नही करना चाहते थे इसलिए उन्होने प्राचीन आत्मा को ही रंगीन बनाकर उपस्थित किया। उनकी रचना इसीलिए उक्तिबहुल और आलंकारिक हुई। एक बात यहाँ और समझने की है। जिसे हम आज प्राचीन या मध्यकालीन कहते है वह उन उन कालों मे प्राचीन नही थी जब उसकी सृष्टि हुई थी। उदाहरण के लिए सूरदास जी को लीजिए और उनकी तुलना रत्नाकर से कीजिए। सूरदास जी के काव्य में वही भाव अतिशय प्राकृतिक रसमय, मनोरम और परिपुष्ट संस्कृति के उन्नायक होकर आए है। उनकी काव्यधारा

'रत्नाकर' जी की सी उक्तिबहुल, अलंकृत और कोरी साहित्यिक (Pedantic) नहीं है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय काव्यगत नवीनता, एक नया संदेश और नई दृष्टि लेकर आए। रत्नाकर जी के 'गंगावतरण' से गुप्त जी के 'जयद्रथबध' की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली में एक नई खराद और काव्य में पौराणिकता के स्थान पर आदर्शात्मक मनोभावों का प्रवेश भी हो रहा है। किन्तु वह प्रवेश भी आरंभिक और आंशिक है। मैथिलीशरण जी मे वह एक करुण मानवीय सात्विकता तथा उपाध्याय जी में प्रशान्त सात्विकता तक सीमित है। अपने समय के ये उत्थान कम उल्लेखनीय नही हैं किन्तु ये शैशवावस्था के हैं। ये जीवन की व्यावहारिक वास्तविकताओ और यौवनोद्वेग की किरणों से ऊष्म नही हैं। कथावस्तु प्राचीन है, यद्यपि निरूपण नया है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि पूर्वयुग की है। उदाहरण के लिए गुप्त जी की नवीनतम रचना 'द्वापर' काव्य को भी देखें तो स्त्री का वही करुण समर्पण, भावुक परा-वलंबन आदि देखने को मिलेंगे। काव्य-चित्र और काव्य-शैली भी व्यक्त, स्थूल रेखाबद्ध, अनुदात्त और अनुत्कर्षपूर्ण है। सिख गुरु के प्रभाव के कारण उपाध्याय जी मे करुणा की अपेक्षा शान्त और भावना की अपेक्षा कर्तव्यपरायणता की प्रमुखता है किन्तु दोनो हैं एक ही युग के दो रत्न, साहित्य में भी समानधर्मी, सांस्कृतिक दृष्टि भी मिलती-जुलती। कुछ

समीक्षकों ने लिखा है कि इन कवियों का प्रकृति-प्रेम और प्राकृतिक चित्रण भी उल्लेखनीय है किन्तु प्रकृति का स्वतंत्र और वास्तविक चित्रण तथा उसकी निजी सत्ता के प्रति आकर्षण हमें इन कवियों में कहीं नहीं देख पड़ता। यत्किंचित वह उपाध्याय जी मे है पर कथा के अंग रूप मे ही। यह भी एक कारण है कि हमें इन कवियो में प्रबंध रचनाओ की ही प्रवृत्ति देख पड़ती है, सुंदर भावगीतो की सृष्टि की नही।

श्री जयशंकर प्रसाद ने काव्य के लिए परम आवश्यक माधुर्य भाव की सृष्टि प्राकृतिक वर्णनो द्वारा आरंभ की। 'चित्रा-धार' की उनकी उस काल की कविताएं लोगों को अनोखी लगी होगी।

'चित्राधार' से प्रकृतिप्रेम की जो कविता आरंभ हुई उसका विश्लेषण करने पर कई बातें मालूम होती हैं। एक तो वह गीत-कविता के रूप में है। जहाँ छोटी-छोटी भावनाएँ एक में केन्द्रित होकर गेय हो उठती हैं उसे गीत काव्य कहते हैं। हिन्दी के आलोचकों ने गीत-काव्य के संबंध मे भयानक भ्रम फैला रखा है। अपनी विचित्र व्याख्याओ मे वे कहा करते हैं कि जहाँ अन्तःसौन्दर्य व्यक्त करना होता है वहां गीतकाव्य द्वारा और जहां वाह्यसौन्दर्य व्यक्त करना होता है वहाँ प्रवन्ध-काव्य द्वारा किया जाता है। पर इस प्रकार की बात वास्तव में है नहीं। द्विवेदी कालीन काव्यकारो या पुस्तक रचयिताओं को ही लीजिए। क्या उनमे हम केवल बाह्य आकार प्रकार और व्यवहार की स्थूल

वर्णना ही मुख्यतः नहीं पाते ? यही नही, प्रेममूलक जिन कविताओं में वे समीक्षक अन्तः सौन्दर्य देखा करते हैं उनमें कहीं कही तो अन्तःसौन्दर्य यही होता है कि वे एक उत्तेजनाशील प्रज्वलन मात्र उत्पन्न करती हैं। यदि देखा जाय तो इस प्रकार के अन्तःसौन्दर्य से तो वाह्यसौन्दर्य ही श्रेष्ठ है। इसी के विपरीत हम प्रबंध काव्यो के विस्तृत कथानकों और चरित्र-चित्रणों मे जो ऊपरी दृष्टि से बाह्य प्रतीत होते हैं उत्कृष्ट श्रेणी का भाव सौन्दर्य देखते हैं। वास्तव में सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य सांचे की वंदिनी नहीं। वर्णनात्मक और गीतात्मक काव्य-भेद से इसके बाह्य और आंतर सौन्दर्य के भेद करना मेरे विचार से असंगत है। गीत काव्य और प्रबंध रचना मे भेद यह है कि एक में काव्य किसी एक ही सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य या जीवनसमस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है और दूसरे में बहुमुखी जीवन-दशाओ और स्थितियों का चित्रण किया जाता है। महाकाव्य की भूमिका प्रायः उदात्त और उसका स्वर गंभीर हुआ करता है जब कि गीतों मे माधुर्य की प्रधानता होती है। वर्णनात्मक काव्य में वाह्य जगत और जीवन व्यापारो का सौन्दर्य दर्शनीय होता है और मुक्तक काव्य में मानसिक स्वरूपो, सूक्ष्म और रहस्यमय मनोगतियों की सुषमा अधिक देखने को मिलती है। दोनों मे ही उच्च कोटि का काव्य, जीवन सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, हमें मिल सकती है।

यह सब कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि उपर्युक्त

अद्भुत आलोचकों के कारण हिन्दी काव्यजगत में अत्यंत हानिकारिणी विचारपरंपरा स्थिर होती जा रही है। जहाँ कोई सौन्दर्य नहीं वहाँ अंतःसौन्दर्य देखा जाता है। जहां सौन्दर्य है उसकी अवहेलना की जाती है। जो गीत-काव्य केवल काव्य संबंधी वाह्य वर्गीकरण की वस्तु है उसे जीवन के अन्तःसौन्दर्य का प्रतिनिधि समझा जाता है। यह सब का सब भीषण भ्रम है। कविता की समीक्षा में न कहीं गीतकाव्य है न कही अगीत काव्य। न कहीं अन्तःसौन्दर्य है न कहीं वाह्य सौन्दर्य। सब प्रकार के काव्य मे सब प्रकार का सौन्दर्य समाहित किया जाने योग्य है। हमे देखना यही चाहिये कि कहां पर क्या है?

श्री जयशंकर प्रसाद के 'चित्राधार' मे उनकी विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति-प्रेम एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त हुआ है। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति के प्रति उनका निसर्ग सिद्ध तादात्म्य नहीं देख पड़ता। प्रत्येक पुष्प मे उन्हे वह प्रीति नही जो वर्ड्सवर्थ की थी। प्रत्येक पर्वत प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नही। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नही करते। यह 'चित्राधार' की बात कही जा रही है। उसमे उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नही। वे सुन्दरता मे रमणीयता देखते हैं, सर्वत्र नही। इस रमणीयता के सम्बन्ध मे उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदयपक्ष है, जिज्ञासा उनका मस्तिष्क पक्ष। कहीं कहीं वे रमणीय दृश्यों को देख कर मुग्ध होते, और कही कही प्रश्न पूछते हैं कि यह रमणीयता इसमें

कहाँ से आई। यदि अधिक छान-बीन की जाय तो देखा जायगा कि मुग्ध होने वाले स्थल कम हैं, जिज्ञासा के स्थल अधिक। जिज्ञासाओं की व्यंजना यह है कि वे प्रत्येक रमणीय वस्तु में चैतन्य ज्योति देखते हैं। अवश्य ही यह चैतन्य-ज्योति कवि के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार आरंभ में जीवन के किसी गहन-स्तर को स्पर्श करता कम देख पड़ता है। नवयुवक कवि यद्यपि अनेक बार इस प्रकार की जिज्ञासाएं करके दिव्य सौंदर्य का संकेत करता है पर उसकी सामान्य दृष्टि किसी तात्विक निष्कर्ष तक नही पहुँचती। उसकी सौन्दर्य भावना का विकास व्यापक नही होता। वह प्रकृति के रम्य रूपों और नारी की मनोहरता तक ही परिमित रहती है। जिस प्रकार ब्रजभाषा के कवि प्रकृति का वर्णन मनुष्यजगत का उद्दीपन बना कर करते थे, उसी प्रकार अनेक बार जयशंकर जी ने भी किया है किन्तु उनकी भावना आरंभ से ही अधिक सूक्ष्म और उन शृंगारी कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और जिज्ञासामय है। यह जिज्ञासा ही आगे उनके विकास मे सहायक हुई है। यदि 'चित्राधार' में ये जिज्ञासाएं न होती तो प्रसाद जी प्रेमाख्यानक शृंगारी कवियों की श्रेणी से ऊपर उठ कर उच्चतर रहस्यकाव्य का सृजन न कर पाते।

'चित्राधार' से आगे बढ़ने पर श्री जयशंकर प्रसाद के प्रकृति-प्रेम और मानव चरित्र संबंधी धारणा को उत्तरोत्तर गहराई मिलती है। उनकी जिज्ञासा वृत्ति का विकास होता है। 'प्रेम-

पथिक' इसका प्रमाण है। इसमें प्राकृतिक वर्णन मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गया है और मानव-सौन्दर्य केवल कुतूहल की वस्तु न रह कर एक अनुपम त्याग की भावना मे पर्यवसित हो गया है। प्रकृति के प्रेम से हटकर उनकी जिज्ञासा मनुष्यों के प्रेम में समाविष्ट हो गई है। जिज्ञासा का तार नहीं टूटता। इसी में कवि का विकास देखा जा सकता है। 'प्रेम-पथिक' मे कवि की मनुष्य प्रेम सम्बन्धी जिज्ञासा का स्वरूप प्रकट हुआ है। यहाँ कवि एक तात्त्विक निष्कर्ष तक पहुँच सका है। प्रेम अनन्त है उसका ओर-छोर नही है। उसकी परिणति पूर्ण त्याग में है। इसमें बड़ी स्वच्छता और सात्विकता है। यह न समझना चाहिए कि प्रसादजी का यह प्रेम संबंधी आदर्श प्राचीन आध्यात्मिक गतानुगतिकता का परिणाम है। इसमे कवि की अपनी अनुभूति और विचारणा का भी योग है। इसका भाव-चित्रण तथा प्राकृतिक दृश्यावली कवि के हृदय के योग से अपनी स्वतंत्र विशेषता रखती है। इसमें परंपरा-रक्षण के स्थान पर नवीन उद्योग है। वाह्य प्रकृति की रमणीयता के साथ साथ प्रेम की रमणीयता को यह छोटी सी आख्यायिका हिन्दी मे एक नवीन भावधारा का आगमन सूचित करती है। प्रेम-पथिक का यह छोटा सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन क्षण मे लिखा गया है।

'आँसू' प्रसाद जी का विरहकाव्य है। यह बड़ी ही मनोरम गीतकविता है। हिन्दी में इसकी गणना थोड़ी सी उत्कृष्ट रच-

नाओं में की जा सकती है। आधुनिक हिन्दी में जो थोड़े से प्रथम श्रेणी के विरह गीत है उनमें "आँसू" का भावना-संकलन श्रेष्ठ होने के कारण वही उत्तम गीत है। 'आँसू' को अध्यात्म और छायावाद आदि का नाम देकर उसे जटिल बना देने के पहले उसको उसके प्रकृत रूप में देखना चाहिए। विरह का इतना मार्मिक वर्णन करने वाले कवि को किसी वाद की छाया लेने की ज़रूरत नही—उसकी उच्चता स्वतः सिद्ध है। काव्य विकास के जो परमाणु खिलकर 'आँसू' में निखरे हैं उन्हें वादों के बखेड़े में डाल देने की हम तजवीज नहीं कर सकते। कवि के साथ यह अन्याय अनुचित होगा।

'आँसू' प्रसाद जी की पूर्व की रचनाओं से बहुत आगे है। उसमें 'चित्राधार' की सी हलकी, चमत्कार-चंचल दृष्टि नही है, न 'प्रेमपथिक' का सा 'रोमांटिक' प्रेमादर्श का निरूपण है-वह अधिक गहरी चीज़ है। 'आँसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। 'आँसू' मे कवि निःसंकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव में आँसू बहाता और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास मे जो मद, जो विराट आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट रूपकों और उपमानों से प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है वही 'आँसू' बन कर निकली है। इसे आप कवि का आत्म स्वीकार मान सकते है जिससे बढ़ कर काव्योपयोगी वस्तु दूसरी है ही नहीं। यह कहने से क्या लाभ कि यह वियोग किसी परोक्ष

सत्ता के प्रति है, जब प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग अधिक मार्मिक और अधिक सत्य है ? जब कवि किसी अत्यंत आवश्यक सांसारिक समस्या पर अपने अंतरतम की बातें कह रहा है तब उसे उसी रूप मे न ग्रहण कर हम न अपने प्रति न्याय करते हैं न कविता के प्रति। 'आंसू' मे छायावाद कहां है ? उसके वियोग-वर्णन में ? नही वह तो साक्षात् मानवीय है। क्या उसकी सम्मिलन-स्मृति मे ? नही वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी में जब किसी के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह इस तरह की बाते कहे तब प्रसाद जी ने उन्हे कहा ! यह साहस और कवि की समवेदना स्वतः ही काव्य को आध्यात्मिक उंचाइयों पर ले गई है। दूसरे अध्यात्म का आवरण पहनाने की इसे आवश्यकता नहीं।

हां, इस संपूर्ण वर्णना में जो मानवीय और प्रकृत है, एक अंतर्निहित रहस्यात्मक या आध्यात्मिक ध्वनि भी आद्यंत सुन पड़ती है। यही है 'आँसू' की रहस्यात्मकता। इसका कारण यह है कि मानवीय प्रेम या सौंदर्य आदि 'आंसू' काव्य में केवल स्थूल प्रेम या सौंदर्य नहीं है, वे प्रेम और सौंदर्य रूप आत्मा के अंग बन गए हैं। 'आँसू' मे मानवीय प्रेम और विरह एक नवीन रहस्यात्मक दीप्ति से दीपित है। यही अंतर है सूफी प्रेम और सौंदर्य की अभिव्यक्तियों में और प्रसाद जी के प्रकृत् रहस्य काव्य मे। सूफी, प्रेम और सौन्दर्य रूप आत्मा के चित्रण को ही लक्ष्य मानकर, केवल आनुषंगिक रूप से मानव जीवन के दृष्टान्त

लेते हैं, किन्तु प्रसाद जी अथवा आधुनिक छायावादी दृश्यमान् मानव जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झांकी देखते हैं। यह स्पष्ट है कि इसी कारण मानवीय मनोविज्ञान, दृश्यो, परिस्थितियों और व्यापारों की नियोजना आधुनिक छायावाद मे प्राचीन सूफी काव्य की अपेक्षा अधिक सबल और यथार्थोन्मुख हुई है।

'आंसू' सब प्रकार से एक मानवीय विरह काव्य है। तभी उसके अन्त में जो तात्विक निष्कर्ष है वह हमारे इस जीवन के लिए आशाप्रद और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सम्पूर्ण काव्य को परोक्ष विरह मानने से अंतिम पंक्तियों की मार्मिक रहस्यात्मकता का न हम अर्थ समझ सकेंगे न रसानुभव कर सकेंगे। 'आँसू' की अन्तिम पंक्तियों की शिक्षा हम पर तभी प्रभाव कर सकेगी जब हम उसे मानवीय आत्मकथा मानें। यदि वह छायावाद है तो इसी अर्थ में कि वह मानवीव प्रेम अपने उत्कर्ष में एक अलौकिक अध्यात्मिक छाया से संपन्न हो उठा है। कवि की अनुभूतियो के साथ इसी रीति से न्याय किया जा सकता है।

'आँसू' के अनन्तर कुछ समय तक प्रसाद जी की कविता का वैसा परिपाक कही नही देख पड़ता। 'झरना' में कुछ अच्छी रचनाएँ बहुत सी साधारण कृतियों के साथ मिली होने के कारण अच्छा प्रभाव नही उत्पन्न करती। प्रगतिशील समय के नवीन बौद्धिक प्रयोगों और उसकी निर्णयहीन अव्यवस्था में प्रसाद जी अपने को पुनः डुबा देते हैं। उनकी वाणी वहाँ प्रकृत रीति से कम ही

झंकृत हुई है, उनके स्वर का निसर्ग उछ्वास वहां नहीं सुन पड़ता। इसका कारण ढूंढ़ने बहुत दूर नहीं जाना है। यह तो उनके विकास के साथ साथ स्पष्ट देख पड़ता है। प्रसाद जी मूलतः प्रेम-रहस्य के कवि है। सामाजिक विचारणा मे वे मिल की भॉति व्यक्तिवादी है और सामूहिक प्रगति संबंधी उन आदर्शों से अनुप्रेरित है जो मध्यवर्ग के बौद्धिक और औद्योगिक उत्थान के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे, जिनमें स्वभावतः अल्पसंख्यक उच्चवर्ग और उसके ह्रासोन्मुख-संस्कारो के विरुद्ध नवीन जनसत्तात्मक भावों का प्राधान्य था। यूरोप मे यही प्रगति 'लिबरलिज्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई और अब भी जनसत्तात्मक राष्ट्रो मे, आवश्यक परिवर्तनो के साथ, प्रचलित है। राष्ट्रीय औद्योगीकरण, वर्गसंघर्ष और शोषण के कटु अनुभवों से उत्पन्न नवीन 'यथार्थवाद' का प्रसाद जी के साहित्य मे केवल एक आभास मिलता है। यद्यपि प्रसाद जी की मूल प्रवृत्ति 'यथार्थोन्मुख' ही है किन्तु संकीर्ण अर्थ में 'यथार्थ वादी' वे नही है। कोरा भौतिक दर्शन और वैज्ञानिक प्रगति से आक्रान्त मनोभाव प्रसाद जी मे हम नही पाते।

प्रसाद जी मनुष्यो के और मानवीय भावनाओं के कवि है। शेष प्रकृति यदि उनके लिये चैतन्य है तो भी मनुष्यसापेक्ष्य है। यह विकासभूमि यदि संकीर्ण है तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है। 'ऑसू' मे प्रसाद जी ने यह निश्चित रीति से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट प्रकति,को भी साज सजा कर नाच नचा सकते है। यह शेष प्रकृति

पर मनुष्यता के विजय का शंखनाद है। कवि जयशंकर प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है। यहीं प्रसाद जी प्रसाद जी हैं। 'आँसू' में वे वे हैं। 'झरना' में एक विचित्र अवसाद, जो नवीन बौद्धिक अन्वेषणों और तज्जन्य संशयों का परिणाम जान पड़ता है, बहुत ही स्पष्ट है। 'प्रेम-पथिक' की आदर्शात्मक भाव-धारा की प्रतिक्रिया भी इसमें दिखाई देती हैं। यह प्रसाद जी के मानसिक विकास की दृष्टि से परिवर्तन काल की सृष्टि है, किन्तु प्रसाद जी जैसे प्रतिनिधि कवि के लिए जो नवीन प्रयोगों में (सामयिक विचार-प्रवाहों के नए चक्रो में) स्वभावतः व्यस्त रहते थे, यह कुछ आश्चर्यजनक नही है। प्रश्न यह अवश्य है कि वे नवीन प्रयोग कौन से हैं जिनका अनिवार्य परिणाम 'झरना' है। मेरे विचार से ये वे प्रयोग हैं जो प्रसादजी को क्रमशः आशा और प्रमोद के लोक से हटाकर जीवन की गंभीर परिस्थितियो का साक्षात्कार करा रहे थे। अवश्य ही यह साक्षात्कार 'झरना' मे स्पष्ट नहीं है, केवल भाव-परिवर्तन की झलक भर है किन्तु कटु वास्तविकता, गंभीर जीवनानुभव तथा स्थान-स्थान पर प्रकट होने वाली आलोकरहित प्रगाढ़ निराशा की वे प्रेरक शक्तियाँ यहीं उत्पन्न हो रही थीं जिनका परिपाक हम आगे चलकर 'कामायनी' काव्य में देखते है। यद्यपि प्रसादजी मे मानवता, उसकी शक्ति और संभावना के प्रति इतनी सुदृढ़ आस्था थी कि 'कामायनी' काव्य दुःखान्त होने से बच गया किन्तु अपने युग की सामाजिक और सांस्कृतिक असाध्य हीनताओं के प्रति प्रसादजी

की विरक्ति, क्षोभ और आवर्जना ' कामायनी ' मे कम परिस्फुट नहीं हुई हैं। उन्हीं का उद्गम स्रोत हमे 'झरना' मे दिखाई देता है।

जिस व्यक्ति ने अपने नाटकों मे, उपन्यास और कहानियो में भी अनेक अनेक मनुष्य चरित्रो और मानवभावनाओं का अंकन किया है उसकी विकासदिशा न समझना हिन्दी के प्रकांड समीक्षको की दिव्य अन्तर्दृष्टि का ही नमूना है। हमारे विश्वविद्यालयों के गंभीरतावादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य सिद्धान्तो का संग्रह करने में महाराज दक्ष की लक्षणा का लक्ष्यभेद कर चुके है, पर जिनका सामयिक साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुँह के समान सदैव कायाप्रवेश ही किये रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बड़े हिस्सेदार हैं। अपनी क्षुधा-तृप्ति के लिये यदाकदा जब इनकी जीभ खुलती है तो एक ही लपेट मे किसी को सूफी किसी को अभारतीय बनाती हुई अपना काम बना लेती है। बस फिर वही कायाप्रवेश। क्या आश्चर्य है यदि सामयिक साहित्य को इन्हीं के कारण वांछित प्रगति न प्राप्त हो रही हो ! ये ही अंतराय बन कर अभ्युदयशील साहित्यिको में दिग्भ्रम उत्पन्न करते हैं। इनसे सचेत रहना हम सबका काम है। श्री जयशंकर प्रसाद सूफी नहीं हैं, जिस व्यक्ति ने 'चाणक्य' की सृष्टि की है 'घंटी' और 'यमुना' की सृष्टि की है; अपनी प्रशंसा और स्तुति द्वारा, अपने वर्णन और चित्रण द्वारा, अपने व्यंग्य और उपहास द्वारा भी,

जो अपनी कल्पना के अनुकूल मानवकाव्य की सृष्टि कर रहा है, जिसकी कविता मानवीय संयोग और वियोग से हल्की और बोझीली हुई है; वह परोक्ष सत्ता का उपासक सूफी कवि नहीं कहा जा सकता। मनुष्यों के जीवन में जो कुछ रहस्य है, छाया की भाँति जो कुछ सूक्ष्म किन्तु अनुभवगम्य है—वही जयशंकर जी का प्रकृत रहस्यवाद अथवा छायावाद है। प्रसादजी का अपना रहस्यवाद कहाँ है ? 'आँसू' की इन पंक्तियो मे :—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
दुख सुख दोनो नाचेगे
है खेल आँख का मन का
नचती है नियति नटी सी
कन्दुक क्रीड़ा-सी करती
इस व्यथित विश्व आंगन मे
अपना अतृप्त मन भरती
हो उदासीन दोनो से
दुख सुख से मेल कराएं
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाएं।

अथवा अनेक वार उद्धृत इन पंक्तियों में—

चढ़ कर मेरे जीवन रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर

मैंने निज दुर्बल पद बल पर
उससे हारी होड़ लगाई।

यहाँ कहीं सूफी रहस्यवाद नहीं। इसे आप मनुष्य जीवन का रहस्य कह सकते हैं। यह ज़िन्दगी के साथ बराबरी का समझौता है—जीवन का औपनिवेशिक स्वराज्य है। प्रसाद जी ने जीवन की कठोर व्यावहारिकता स्वीकार की है, पर आध्यात्मिक आशावाद के साथ। यह दृढ़ मनस्विता ही प्रसाद जी की विशेषता है। यही उनका रहस्यवाद और छायावाद है। इसे उनकी मानवीय कविता का उपसंहार कहिये या उपहार कहिये। इसके अतिरिक्त हम प्रसाद जी के किसी दूसरे छायावाद के भक्त नहीं हैं।

भारतीय अध्यात्म काव्य अथवा सूफी प्रेमकाव्य सिद्धान्ततः एक ही भूमि पर है, वह भूमि है अलौकिक आदर्श की। आत्मा की वह अप्राकृत स्थिति जहाँ वह संपूर्ण जगद्व्यवहार के परे विशुद्ध पारमार्थिक अथवा अपार्थिव रूप मे प्रकट है वही आध्यात्मिक साहित्य का वर्ण्य विषय है। जहाँ मानवीय भावो का सन्निवेश किया गया है वहाँ भी अतिशय आदर्शोन्मुख भाव हैं और अमानवीय सत्ता की झलक दिखाते है। यह सत्य है कि ह्रास काल मे यह आध्यात्मिक काव्य स्थूल रूपो दृश्यो और भावो का भी प्रेम-काव्य और अलौकिक लीला के नाम पर चित्रण करने लगा था किन्तु सिद्धान्त रूप मे वह अलौकिक भूमि पर ही रहा। केवल भारतीय अवतारवाद की धारा के अंतर्गत मानवीय आदर्शों, भावो और व्यावहारिक स्थितियो का विशेष दिग्दर्शन

कराया गया किन्तु वहाँ भी चरित्र की अलौकिकता सिद्ध करने में कोई कसर नही रक्खी गई। फलतः संपूर्ण अध्यात्म-काव्य अपनी अलग ही परिधि बना कर रहा जिसमे मानव-चरित्र का या तो स्पर्श ही नही हुआ, या केवल साधन रूप में स्पर्श हुआ। पार्थिवता अपार्थिव की ध्वनि या संकेतमात्र बन कर रही।

इसके विपरीत प्रसाद जी का काव्य मूलतः मानवीय है यद्यपि उनकी दृष्टि में यह मानव-सत्ता वास्तव मे अध्यात्म का अभिन्न अंग ही है। इस कारण उन्हें मानव-चरित्र को ही अपना साध्य बना लेने में कोई 'आध्यात्मिक' संकोच नहीं हुआ। यह विभेद है आध्यात्मिक या सूफी रहस्यवाद मे और प्रसाद जी के प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रणों मे।

मानवीय जीवनस्वरूपो का भी आध्यात्मिक प्रबंधों मे, या विशेष सूफी प्रबंधकाव्यों में सुंदर चित्रण किया गया है। तुलसी और सूर के राम और कृष्णकाव्य मे तो मध्ययुग की सर्वोच्च संस्कृति ही संनिहित है। तथापि यह कहने में आपत्ति नहीं है कि लक्ष्य कुछ और ही होने के कारण यह संपूर्ण अध्यात्म-काव्य प्राकृतिक मानवीय अनुभूतियो और वास्तविक जीवन-दशाओ के साथ यथेष्ट न्याय न कर सका। उसकी प्रमुख दिशा भावना प्रधान और आदर्शोन्मुख थी। फिर ह्रास काल मे तो सूफी प्रेम-कथाओं मे प्रायः एक से ही नपे-तुले चरित्रों और भावों की सृष्टि होने लगी। कृष्ण काव्य भी क्रमशः रूढ़ हो गया, और महाभारत की सी चरित्र सृष्टि तथा सूरदास जी की सी वास्तविक भाव सृष्टि

के स्थान पर केवल भाव की अंतर्दशाओं का चित्रण होने लगा। प्रधानता रूढ़ कृष्ण की हो गई और काव्य तथा संस्कृति का स्वतंत्र विकास स्थगित हो गया। यह तो ह्रासकालीन भक्तिकाव्य की दशा थी।

दूसरी ओर जिनकी दृष्टि स्थूल और लौकिक थी, वे कवि विविध प्रकार के नायक-नायिकाओं की सृष्टि तथा शृंगार रस का कागजी और विकृत निरूपण करने लगे। उक्त दोनों ही स्थितियाँ देश की वास्तविक सांस्कृतिक प्रगति मे बाधक ही सिद्ध हुईं।

प्रसाद जी के काव्य मे नवीन सांस्कृतिक स्मृति-चिन्ह तो है ही, मानव-जीवन की स्थितियो और प्रकृत भावनाओं को ग्रहण करने वाली बौद्धिकता का पूर्ण सत्कार भी है। उसके रूढ़िवद्ध होने की संभावना नही है। किन्तु प्रसाद जी का काव्य कोरमकोर बौद्धिक या प्राकृतिक स्तर पर नही है। मानवीय और प्राकृतिक है परन्तु सूक्ष्म और कल्पना प्रधान है और एक अतिशय मनोहर रहस्य की आभा से अनुरंजित भी है। प्रसाद जी का रहस्यवाद शक्ति-पूर्ण सुदृढ़ मानवता का विकास अपनी छत्रछाया मे करता है, तथा अपर कोई लक्ष्य नही रखता। इसीलिए हम उसे प्राकृतिक (अपरोक्ष) रहस्यवाद कहते है जो सूफी (परोक्ष) रहस्यवाद से स्पष्टतः भिन्न है।

प्रसंगतः यहाँ हम यह भी कहना चाहते हैं कि आधुनिक काव्य मे इसी अपरोक्ष रहस्यवाद के विभिन्न रूपों की प्रचुर अभिव्यक्तियां हुई हैं। ये विभिन्न रूप (१) प्रकृति संबंधी (२) प्रेम

संबंधी तथा (३) सौन्दर्य संबंधी हैं। इन्हे हम प्राकृतिक रहस्य-वाद इसलिए कहते हैं कि इनका घनिष्ठ संबंध व्यक्त प्रकृति के रूपों, मानव मनोभावों आदि से है और ये उस पारमार्थिक रहस्यवाद से भिन्न हैं जो परोक्ष आदर्श की प्रतिष्ठा करता है तथा जिसकी प्रधान धाराएं निर्गुण, सगुण तथा सूफी काव्य में प्रवाहित हुई हैं।

(१९३२ जुलाई)

प्रौढ़तर प्रयोग

(कामायनी)

श्रीयुत प्रसाद जी की काव्य-पुस्तक 'कामायनी' को प्रकाशित हुए कई महीने हो गये है। मेरे देखने में अब तक उसकी कोई सुन्दर समीक्षा नही आयी। संभव है लोग उसे पढ़ कर उस पर विचार कर रहे हो। ऐसे भी कुछ होंगे जो उसका रस लेकर तृप्त होकर और कामों मे लग गये हो। कुछ उसे पढ़कर अपने अनुकूल न पाकर चुपचाप रख कर बैठ भी गये होगे। बहुत ऐसे होगे जिनकी समझ मे ही पुस्तक न आयी होगी। पाठक तो सभी प्रकार के होते है, कुछ केवल कथा चाहते हैं, उद्वेग से भरी हुई; कुछ केवल भाषा के अभिलाषी होते है, सुन्दर शब्दो के, विचित्र वाक्यो के, अनूठे अनुबन्धो के। कुछ को विचारो की ही खोज रहती है, अधिक से अधिक अपने ही विचारो को, आदर्शों को। कुछ बेचारों को पुस्तकें पढ़ने और समझने की चेष्टा तो रहती हैं, पर उनकी समझ मे वे आती नहीं। नयी शैली के अनभ्यास के या अल्प योग्यता के कारण हिन्दी मे ऐसे ही पाठकों की अधिक संख्या है। अन्धश्रद्धा और अश्रद्धा आदि इसी के परिणाम है। पर इस विषय की अधिक चर्चा करना यहाँ उचित न होगा।

'कामायनी' प्रसादजी की अब तक की कृतियों में अंतिम है। अंतिम ही नहीं विकास और विस्तार की दृष्टि से वह अन्य-तम भी है। एक कृती कवि तो प्रसादजी को सभी मानते हैं पर उनका कर्तृत्व क्या है, यह बहुतों को नहीं मालूम। लोगों की उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं, जो सामयिक पत्रों और पुस्तकों में प्रकाशित हो चुकी है। उनसे प्रगट होता है कि प्रसादजी के काव्य के विषय में लोगों के मनों में बहुत सी भ्रान्तियाँ भरी हुई हैं। इनका कारण चाहे जो हो पर जब तक इनका निवारण नहीं होता, तब तक कवि की यह कृति 'कामा-यनी' ठीक-ठीक समझ मे नहीं आ सकती। इसलिए मैं सबसे पहले उन भ्रान्तियों को ही लक्ष्य कर कुछ कहूँगा और इस क्रम से कहने की चेष्टा करूँगा जिसमें उन सभी अयथा विचारो पर दृष्टि पड़ जाय, साथ ही 'कामायनी' की समीक्षा में उससे प्रत्यक्ष सहायता भी मिले। निश्चय ही यहाँ संक्षेप में ही सारी बाते कही जा सकेंगी क्योंकि विस्तार करने का अवकाश नहीं है।

कुछ लोग 'कामायनी' के कवि को कोरा कवि, भावुक या "सेंटिमेंटलिस्ट" समझते हैं। कोरा कवि उसे कहते हैं जिसकी भावना का कोई सुनिश्चित बौद्धिक आधार न हो। न जिसकी भावना किसी निश्चित आधार का निर्माण करती हो, न किसी निश्चित आधार तक पहुँचती हो, न जिसके मूल में दृढ़ता हो, न मध्य में न अंत मे। मूल में दृढ़ता उसे कहते हैं जो किसी सुनिर्दिष्ट लक्ष्य, जीवनानुभव या समस्या को लेकर

आरम्भ होती है और उसका कलात्मक उद्घाटन कर के समाप्त हो जाती है। मध्य की दृढ़ता वह है जिसका आदि-अंत कितना ही काल्पनिक अथवा अज्ञेय हो किन्तु जिसकी काव्यगत वर्णना सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार रखती है। अंत की दृढ़ता वह है जो किसी लक्ष्यविशेष को लेकर आरम्भ नही हुई न जिसका उपादान ही अधिक मनोवैज्ञानिक है किन्तु जो मुख्य रूप से किसी व्यापक तत्व का प्रकाश करती है। इन तीनों दृढ़ताओं को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आदि की दृढ़ता का उदाहरण अधुनिक साहित्यिक रचनाएँ विशेषकर इब्सन आदि का साहित्य है, मध्य की दृढ़ता का एक अच्छा उदाहरण वाण की 'कादंबरी' है। न उसके मूल मे कुछ है न अन्त में। वह सब ओर से कल्पना पर ही स्थित है। किन्तु उसकी वर्णना मे बड़े ही परिष्कृत सूक्ष्म किन्तु सुस्पष्ट मानसिक सत्य का आधार है। इसी से वह इतनी रसपूर्ण रचना बन सकी। अंत की दृढ़ता का दृष्टांत रामायण आदि काव्य हैं जो एक उत्तम सत्ता के आश्रय से सारी मानवीय समस्याओ का समाधान उसी एक में कर लेते है।

इन तीनों में सबसे पृथक् किन्तु इसमे सबसे दूसरी अधिक से मिलती हुई, कोरे भावुक कवियो की कृतियाँ है। कादंबरी की भांति ये भी कोरी कल्पना पर स्थित होती हैं, ये भी शब्दों के इन्द्र-जाल से हमे विस्मित करना, हँसाना-रुलाना चाहती हैं, किन्तु यह काम वे कर नही पाती। कादंबरी को कल्पना का कोई आधार या उद्देश्य प्रत्यक्ष नही है किन्तु परोक्ष में प्रेम की अत्यन्त

सूक्ष्म वस्तु-स्थिति के चित्र उसमे है जिनके कारण वह उच्च काव्य की पदवी पर प्रतिष्ठित है। ऐसी कोई वस्तु-स्थिति कोरे भावुकों के काव्य में नही हो सकती। न तो उनकी भावना के मूल मे कोई सुदृढ़ मनोविज्ञान होता है और न उसके चित्रण में हा उच्चतर कल्पना और काव्योत्कर्ष की आभा देख पड़ती है। ऐसे काव्य की जिसमे केवल भावना ही भावना है, एक अनिर्दिष्ट वहाव ही बहाव है आए दिन अतिमात्रा हो रही है।

प्रश्न यह है कि क्या 'प्रसाद' जी ऐसे ही भावुक है? जो लोग ऐसा कहते हैं वे प्रायः उनकी प्रारम्भिक रचनाओ का उदाहरण दिया करते हैं। साथ ही वे प्रसादजी की अलंकृत भाषा वाली आख्यायिकाओं का भी इस प्रसंग मे स्मरण कराते है। यह सच है कि सभी कवियो की भावना आरम्भिक अवस्था मे परिपुष्ट नही होती, उनमे असंवद्ध और अहेतुक भावुकता हुआ करती है, किन्तु यह प्रसादजी की प्रकृति की बात नही है। यह तो अवस्था-जन्य आरोप ही कहा जा सकता है। अवस्थाजन्य ही नहीं इसमे हिन्दी की उस समय के स्थितिजन्य प्रभाव भी है। उस समय हिन्दी एक प्रकार की कट्टर सुधारवादिता के चक्र से होकर गुजर रही थी। चित्त की जो अवस्था किसी वस्तु के विकृत रूप को देख कर उस वस्तु से ही घृणा करने की हुआ करती है, प्रायः वैसी उस समय हिन्दी की भी थी। उस अवस्था मे मनोवृत्तियाँ प्रायः संकुचित हो जाती हैं और एक प्रकार की ओछी तथा अव्यावहारिक करुणा का भाव मन पर अधिकार कर लेता है।

यही कोरी भावुकता उस समय के साहित्य में प्रतिफलित हुई है। शृंगाररस के विरोध में जो जिहाद चला उसने बाह्य और आन्तरिक प्रकृति के बहुत से अंशो को अस्पृश्य बना दिया। श्री-शोभा का नाम लेना ही अपराध हो गया। भक्त कवियों ने तो शोभा और सौन्दर्य के सुन्दर आदर्श सीता, राधा, राम, कृष्ण आदि की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् संसार को 'सियाराममय' घोषित किया किन्तु इन सुधारको ने तो आरम्भ से ही अपनी दृष्टि संकुचित कर ली। फलतः साहित्य मे शक्तिहीन करुण भावुकता के राग अलापे जाने लगे। प्रसादजी पर भी इस भावुकता का प्रभाव पड़ा, पर वे इसके वशीभूत नही हुए।

वशीभूत नही हुए, यही नहीं, वे इसके विरोधी हुए। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होने प्रायः सबसे पहले इस भावुकता के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने ही सर्व प्रथम उदय होती हुई ताराओ और खिलती हुई कलियों का सौन्दर्य देखा और पहचाना। कारण यही है कि वे स्वयं हिन्दी-काव्याकाश के उदय होता हुई ताराओ और खिलते हुए पुष्प थे। महाराणा प्रताप और अहल्याबाई के नामों मे ही सब कुछ नहीं है, इस विराट् विश्व मे उनके बाहर भी कुछ है, यह बात हिन्दी मे प्रसादजी ने सबसे पहले हमे समझने को दी। यह अवश्य है कि उन्होने संकेतात्मक शैली से—रहस्य के रूप मे—प्राकृतिक चित्रण किये है जिनसे यह प्रकट होता है कि उन वस्तुओ की सत्ता से कवि का उतना संबंध नहीं है जितना उनसे प्राप्त होनेवाले संकेतो से

है। दूसरे शब्दों में प्रकृति उनके लिए संकेत मात्र है, उसका कोई वास्तविक सौन्दर्य नहीं। किन्तु हमें तो विचार इस वात पर करना चाहिए कि जिस समय हिन्दी में विस्तृत प्रकृति की ओर किसी की दृष्टि न थी उस समय प्रसादजी की दृष्टि उस पर गयी। यदि वह संकेत-रूप में ही गयी तो भी गयी और संकेत के साथ साथ वह (प्रकृति) भी रही। फिर हमें यह भी देखना होगा कि प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर चलने वाले प्रसादजी के संकेतो में संकेत किस वस्तु के प्रति है और उन संकेतों के रहते हुए वास्तविक प्राकृतिक चित्रण भी कुछ है या नहीं।

ध्यान देने पर यह प्रकट होता है कि प्रसादजी के संकेत भी किसी विराट् वस्तु के प्रति हैं जो प्रधानतः प्रेम-स्वरूप है। वस्तु के विराट् और प्रेम-स्वरूप होने के संकेतो से प्रसादजी ने अपने युग की दृष्टि और भी व्यापक वनायी। प्रेम और परमात्मा (अथवा विराट् प्रकृति) दोनों ही दृष्टि का अंतरंग और वहिरंग उन्मेष करनेवाले प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार संकेतित वस्तु के द्वारा भी, स्वभावतः उसी उद्देश्य की पूर्ति हुई जिसकी पूर्ति उक्त प्राकृतिक वर्णनो और संकेतो द्वारा हो रही थी। इस प्रकार की दोहरी प्रगति का सूत्रपात प्रसादजी ने किया। प्रकृति के द्वारा प्रेम और प्रेम के द्वारा प्रकृति पर अधिकाधिक दृष्टि पड़ती गयी और जहाँ इन दोनो का विकासपूर्ण सामंजस्य हो गया है वहाँ प्रसादजी का काव्य अत्यन्त गंभीर और समुन्नत हो उठा है।

उनके आरम्भिक वर्णनों मे जहाँ प्रकृति संकेतमात्र तथा

संकेतित वस्तु अत्यधिक प्रमुख हो गयी है, वहाँ तारतम्य ठीक नही मालूम पड़ता। प्रायः लोग उसे भावुकता, कृत्रिमता या वाग्जाल कहा करते हैं। किन्तु ऐसा वे ही कह सकते है जिन्होंने साहित्य के इतिहास पर ध्यान नहीं दिया। उस समय की प्रमुख काव्य-वस्तु पौराणिक पात्रों की सीमा से एक कदम आगे बढ़-कर ऐतिहासिक चरित्रों पर पहुँचने मे प्रसादजी की भावुकता नही प्रकट होती, वस्तु-स्थिति की ओर अग्रसर होने का यह उनका प्रथम प्रयास था। और जिस प्रकार प्रसादजी ने प्राकृतिक वस्तु का प्रेम-तत्व से सम्मिश्रण करके प्रकृति-पुरुष का संयोग या मंथन कराया वह भी तत्कालीन आदर्शोन्मुखी ('प्यूरीटैनिक') विचार-धारा मे वस्तु-तत्व का ही पुट था। उन्होंने अपने पूर्वयुग की कृत्रिम काल्पनिकता के स्थान पर वास्तविक आनन्दात्मक काव्य प्रतीकों को चुना और उन्हे ऊँची रहस्य भूमि पर ले जाकर आध्यात्मिक काव्यधारा में मिला दिया। प्रसादजी के काव्य और नाटको मे भी निरंतर एक ही प्रवाह बह रहा था, वे सतत अदृष्ट से दृष्ट की ओर आ रहे थे।

मेरा यह दृढ़ विचार है कि प्रसादजी आधुनिक हिन्दी मे वास्तववाद, वस्तुतंत्र के भी प्रवर्तक हैं। हिंदी के बहुत से विद्वान् इस बात को मानते है या नहीं, मैं नही जानता; जानते हैं या नहीं यह भी नही जानता, मैं तो इसे मानता ही हूँ। इसका थोड़ा और विवेचन कर लेना अच्छा होगा। काव्यवस्तु में पवित्रतावादी प्रतीकों को छोड़कर आनन्दवादी प्रतीकों को चुनना और उनका

आध्यात्मीकरण हम ऊपर देख चुके हैं। यह मूलतः यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति है, यद्यपि सूक्ष्म कल्पना के अतिरेक से यह रहस्यमय हो गई है। फिर प्रसादजी के भाव चित्रणों मे भी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता लाने की प्रथम वार चेष्टा की गई है। यह तो हम ऊपर कह चुके हैं कि उनके काव्यविषय अदृष्ट से दृष्ट और असामान्य से सामान्य की ओर आ रहे थे। यह भी यथार्थ की ओर प्रगति है और उनकी कृतियों में एक अंतर्निहित वौद्धिक प्रवाह भी पाया जाता है जो मानवीय और इस युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का परिचायक है। प्रसादजी की इस मुख्य देन का हिन्दी में अभी यथेष्ट सम्मान नहीं है। अभी लोगों को इस विषय की कोई स्पष्ट जानकारी ही नहीं मालूम देती। ऊपर मैंने उन लोगों की वात कही है जो प्रसादजी को कोरा भावुक समझने की सबसे मोटी गलती करते हैं। उनका समाधान यदि अब तक नहीं हुआ तो शायद आगे हो। उनके पश्चात् दूसरी गलती, जो पहली से कम मोटी है, उनकी प्रतीत होती है जो प्रसादजी को प्राचीनतावादी, विशेषतः वौद्ध-संस्कृति का उपासक मानते हैं। यद्यपि इसे वे कोरी भावुकता या भावावेश नहीं कहते फिर भी उससे मिलती-जुलती पुरातनवादिता तो मानते ही है। मुझे भय है कि इस प्रकार का विचार प्रसादजी के संवंध मे सबसे अधिक फैला हुआ है। मै कह चुका हूँ कि पौराणिक पात्रों को छोड़कर ऐतिहासिक वौद्ध कालीन पात्रों तक पहुँचने मे अदृष्ट से दृष्ट की ओर ही अग्रसर होने का भाव था। इतना ही नही, हमे यह भी देखना

होगा कि इन बौद्धकालीन चरित्रों को प्रसादजी ने क्यों और किस रूप में कथावस्तु का उपादान बनाया है ? क्या इसलिए कि प्रसादजी बौद्ध हैं, या प्राचीनता के भक्त, आदर्शवादी है ? मुझे ऐसी बात नहीं मालूम होती। बौद्धकालीन भारत हमारे देश का सुवर्ण-युग कहा जाता है। उसकी ओर सबका आकर्पित होना स्वाभाविक है। किन्तु प्रसादजी उसकी ओर इसलिए नहीं आकर्षित हुए कि वह सुवर्ण-युग था, उसकी स्तुति करे, वरन् यह जानने के लिए वहाँ गये कि वह सुवर्ण-युग क्यों था, उसकी विशेषताएँ क्या थी, उसमें कोई ऐसी वस्तु है जो हमारे आज के अनुकरण का आधार बन सकती है ? इतने अंशो में प्रसादजी बौद्ध या बुद्धिवादी भले ही हों, बौद्ध-धर्म से उनका कोई विशेष संपर्क नहीं जान पड़ता। प्रसादजी ने बौद्ध-साहित्य का अन्वेषण धार्मिक दृष्टि से नहीं किया केवल मनोविज्ञान की वह दुर्लभ सामग्री प्राप्त करने के लिए किया जो परवर्ती हिंदू धर्म की निम्न कोटि की धार्मिकता या आध्यात्मिकता मे विलुप्त सी हो रही थी। ये सारे प्रयास कवि को यथार्थवाद की ओर ही ले जाने वाले सिद्ध हुए।

इसके मैं दो-एक उदाहरण भी दूँगा। बौद्ध-कालीन चरित्रो के अध्ययन से प्रसादजी ने एक मुख्य वस्तु निकाली नारी-शक्ति का सम्मान, दूसरी मुख्य वस्तु निकाली अहिंसा अर्थात् पतितो के प्रति करुणा का भाव। बिना करुणा के—सहानुभूति के—हम किसी के अन्तस्तल में प्रवेश नहीं कर सकते। किसी की स्थिति

किस प्रकार बिगड़ी या बनी, हम नहीं समझ सकते। करुणा का एक धार्मिक स्वरूप है, सबके लिए त्याग करना। उसका एक मनोवैज्ञानिक स्वरूप है सब की स्थिति का रहस्य समझना। प्रसादजी ने निश्चय ही इन दोनों पहलुओं का दिग्दर्शन किया है, किंतु इनमें से दूसरे की ओर उनका ध्यान स्वभावतः अधिक है। इसी प्रकार नारी-शक्ति का सम्मान आदर्शवाद की कोई उड़ान नहीं है, उस शक्ति के वास्तविक स्वरूप और रहस्य के संधान की चेष्टा है जिसे भारतवासियों को खोये बहुत दिन हो गये।

प्राचीन साहित्य का विलोड़न प्रसादजी का साध्य नहीं है, वह साधन मात्र है। प्राचीन कथावस्तुओं का ग्रहण मुख्यतः इस अभिप्राय से है कि हम उस समय की उन्नतिशील और सर्वतोमुखी चेतना को देखें और उसमें जो कुछ लेने लायक है उसे लें। इसमें प्रसादजी ने अपनी कल्पना का भी यथेष्ट उपयोग किया है और बड़ी सावधानी से नवीन दृष्टि का विन्यास और समर्थन करने की चेष्टा की है। रूढ़ संस्कारो और विचारपद्धतियों को तोड़ कर नवीन विचारस्वातंत्र्य, उदारता और मानवीयता का शिलान्यास प्रसादजी ने किया। आधुनिक समानता और जनसत्तात्मक भावों का पूरा प्रभाव प्रसादजी के साहित्य में है। कोरमकोर आदर्शस्थापन को छोड़कर वे नवीन वास्तविकता की ओर कई कदम आगे बढ़े हैं। उत्तरोत्तर अपने नाटकों मे उन्होंने सामयिक समस्याओं को अधिकाधिक स्थान दिया है और ध्रुवस्वामिनी में आकर तो वे एक अत्यन्त आधुनिक प्रश्न, तलाक की प्रथा, का

निर्देश करते देखे जाते है। यह ठीक है कि प्रसादजी बर्नार्ड शा की तरह प्रचंड बुद्धिवादी नही हैं, किन्तु वे उसी की तरह आधुनिक है, इसमे सन्देह नही।

आधुनिक वे इस अर्थ मे हैं कि प्रत्येक वस्तु को खुली निगाह से देख सकते और उसकी धारणा बना सकते है। बुद्धिवादी वे इसलिए नहीं है कि केवल तर्क के द्वारा वे किसी तथ्य पर नहीं पहुँचना चहते। उनके विचार से बुद्धि ही दुःख और सुख, पाप और पुण्य आदि के भेदो का विस्तार करती और परिणाम मे द्वैत, द्विविधा या दुःख बढ़ाती है। आशा, चिन्ता, बुद्धि, मनीषा ये सभी दुःख के ही नाम है। कोरा बुद्धिवाद या तो मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यो से विरक्त बना कर घर से बाहर निर्जन में निकलवा देगा या संसार की घोर वासनाओ मे लिप्त करा देगा। और यदि इन दोनों के बीच मे कोई रहा तो वह सत्य से दूर, अपने बाहरी और भीतरी आचरणो मे भेद लिए हुए, प्रति क्षण चिन्तित और अधकचरा सा मनुष्य होगा। प्रसादजी ऐसे बुद्धिवादी नहीं है। मै कह चुका हूँ कि वे प्रकृति की विस्तृत विभिन्नता को प्रेम-तत्व से सन्निहित कर के देखनेवाले यथार्थवादी है। वे स्वयं शिव के उपासक है किन्तु विस्तृत प्रकृति का आनन्द लेने के लिए शक्ति की उपासना भी करते है। मेरी समझ मे, इसी लिए वे आधुनिक है, आधुनिक मनुष्यता के प्रतीक है।

यहाँ शिव और शक्ति की उपासना की बात थोड़ी और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। शिव ही एक मात्र प्रेम या आनन्द का

तत्व है, किन्तु यह आनन्द अगाध और निश्चल होने के कारण बाह्यसौन्दर्यहीन है। इसमें सौन्दर्य की तरंगे उत्पन्न करने के लिए शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह शक्ति ही परिपूर्ण प्रकृति के रूप मे अपना प्रसार करती है। प्रकृति के विपय में भिन्न-भिन्न दर्शनो की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। यहाँ हमें उन धारणाओं से प्रयोजन नहीं। यहाँ तो यही कहना पर्याप्त होगा कि प्रसादजी उत्तरोत्तर प्रकृति की इन सौंदर्य-तरंगों से परिचित और प्रभावित होते गये हैं। बहुत दिन नहीं हुए जब वे मुझसे कह रहे थे की प्रत्येक शरीरधारी को शिव-रूप जान कर ही मैं, "आइए प्रभु !" कहा करता हूँ। निश्चय ही इन अनंत शिवरूप प्रभुओं में अमृत और हलाहल की असंख्य मात्राएँ मिलती हैं, किन्तु शिव के उपासक को तो ये दोनों ही समान रूप से आस्वाद्य है। इन दोनों को पीने की जो शक्ति चाहिये, उसीकी साधना शिवोपासक प्रसादजी ने निरंतर की है। इसीलिए मैं उन्हे दार्शनिक दृष्टि से निष्ठावान यथार्थवादी कवि कहता हूँ। हमे यह कभी नहीं भूलना होगा कि यद्यपि प्रसादजी का काव्य, भावना में ऊंचा उठ कर, आध्यात्मिक रहस्यभूमि को स्पर्श करता है किन्तु वह युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियो को अपने अंदर लेने में पूर्णतः समर्थ है। इसी कारण प्रसादजी नए युग-जीवन का निरूपण अपने काव्य मे कर सके हैं। यही नहीं वे नए युग के प्रतिनिधि कवि कहला सके हैं।

इसी अधुनिक भाव धारा का प्रतीक "कामायनी" काव्य

है। उसमे इसी मनुष्यता का आवाहन किया गया है । इतना कह देने पर शायद ऊपर का विषयान्तर अब दूर हो जाय। इस अत्यावश्यक तथ्य को स्पष्ट रीति से प्रकट करने के लिए ऊपर की पूरी भूमिका बाँधी गयी है, और यह मेरे विचार से विशेषतः प्रसादजी, तथा सामान्यतः आधुनिक कविता के संबंध में फैले हुए भ्रम को दूर करने के लिए आवश्यक भी थी। यह भ्रम साधारण जनता में ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वानो तक में, दिखायी देता है। हिन्दी के श्रेष्ठ समीक्षक और मेरे शिक्षक पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल ने भी नवीन काव्य के इस स्वरूप की ओर ध्यान नही दिया। इस कारण उनसे इस विषय मे कई बार गलतफहमियाँ हुई है। शुक्लजी स्वयं पुरानी शैली के आदर्शवादी हैं, वे अधुनिक यथार्थवाद की विचारधारा से या तो परिचित ही नही या अन्यमनस्क है। मुझे ठीक स्मरण नही उन्होने 'काव्य में रहस्यवाद' या अन्य किसी पुस्तक मे यह घोषित किया है कि रहस्यवाद (अधुनिक कविता) की इस बेतुकी तान की अपेक्षा तो गद्य-काव्य के रूप मे लिखी गयी उक्तियाँ अच्छी हैं। शुक्लजी का आशय उस गद्य-काव्य से है जो अदर्शवादी व्यक्तियों के द्वारा आध्यात्मिक सत्ता को लक्ष्य करके लिखा गया है। किन्तु शुक्लजी इस यथार्थोन्मुख मानव रहस्य-काव्य और उस आदर्शवादी अध्यात्म-काव्य के मौलिक अन्तर की ओर ध्यान नहीं देते। आदर्श और यथार्थ का संपूर्ण मनोविज्ञान ही एक दूसरे से पृथक् हो गया है। अपने देश मे बौद्धिक विचारधाराएँ और मतमतान्तर

भी धर्म की छत्रछाया में ही विकसित हुए हैं। इसलिए आदर्शवाद और यथार्थवाद का दार्शनिक अंतर समझने के लिए भी हमें धार्मिक इतिहास की ही शरण लेनी पड़ती है। यह अच्छा है, यह बुरा है, अदर्शवादियों का यह महावाक्य है। और जब अच्छे और बुरे की खोज होने लगी तब संसार में कुछ भी अच्छा न दीखा। इसलिए इसे छोड़ो, उसे छोड़ो, सब कुछ छोड़ो का प्राबल्य हो गया। नारी को मलमूत्र की खान समझ कर छोड़ दो, अपने को भी मृत्यु का कवल समझ कर छोड़ दो। इस विकृत संसार के परे जो अविकृत सत्ता है उसी की शरण लो। इसका नतीजा यह हुआ कि अविकृत सत्ता जगतबाह्य या अलौकिक हो गई और वही एकमात्र सौष्ठव की प्रतीक हुई। मानवजीवन का महत्त्व फीका पड़ गया। यह सही है कि मनुष्य इसे सहन न कर सका और इसी अविकृत सत्ता को मानव रूप देकर उसके अवतारों की कथाएँ कहीं जिसमें जीवन की व्यापक आस्था पुनः आ गई किन्तु फिर भी इसमे निहित दार्शनिक दृष्टि प्रगतिशील मानव संस्कृति का पूरा पूरा साथ न दे सकी। अवतारी चरित्रों ने प्रवृत्ति और निवृत्ति की अपनी लीक बना दी और उपासना का मार्ग प्रशस्त हो गया। यह आदर्शवाद की दूसरी लीक बनी। साहित्य में जब यह विचार-धारा फैली तब दो परस्पर विरोधी गुणों के नायको का संघर्ष और भले का भला तथा बुरे का बुरा नतीजा दिखा कर काव्य समाप्त किया गया। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में रहने वाली अंतःकरण वृत्ति, कुछ विशेष आचारों

और मनोभावों के लिए रूढ़ हो गई। मानव आचार और कर्तव्यों ने अपना बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक आधार खो दिया। यह भला-बुरा, ईश्वर-शैतान है क्या, इस पर आदर्शवादी विचार नहीं करते या विचार करते हैं तो घर या मनुष्य-क्षेत्र के बाहर जाकर। इसके साथ ही यथार्थवाद की एक विचार-धारा प्राचीन काल से ही चली आ रही है जिसे यहाँ के राजर्षियो या कर्मयोगियों ने विशेष रूप से पहचाना था और पहचान कर अनुसरण भी किया था। इसी के संबंध में गीता में श्री कृष्णचन्द्र जी ने कहा है :—

> इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
> विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
> एवं परंपरा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
> स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

यह योग श्रीकृष्ण ने विवस्वान् (अर्थात् सूर्य) को बतलाया था। विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया। ऐसी परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु दीर्घ-काल के अनन्तर यही योग इस लोक में नष्ट हो गया। निश्चय ही मनु-स्मृति आदि ग्रन्थ इसी योग के अनुसार लिखे गये है। संक्षेप मे इसका स्वरूप गीता मे इस प्रकार बतलाया गया है :—

> किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
> तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

... ...

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

गीता ४ (१६, १८)

इसका अर्थ करते हुए लोकमान्य तिलक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म संबंधिनी "यह तात्विक दृष्टि निष्काम कर्म करने वाले कर्मयोगी की है, काम्य कर्म करनेवाले मीमांसिकों की या कर्म छोड़नेवाले सन्यास-मार्गियों की नहीं है।" इसका अर्थ यह भी है कि यहाँ भले-बुरे का रूढ़िबद्ध प्रश्न नहीं उठता और न कर्म-त्याग करने का प्रश्न ही आता है। यहाँ केवल निष्काम कर्म की शिक्षा है। यह वह शिक्षा है जिसमें भले और बुरे के अनुसंधान की अपेक्षा अशेष प्रगति शील मानव व्यापारों के स्वतंत्र परीक्षण की अधिक प्रवृत्ति है। यही यथार्थवादियो का लक्ष्य है। यहाँ दृष्टि निष्काम होने के कारण द्रष्टा को प्रकृति के अपार नवीन क्षेत्रों में जाने, नई सांस्कृतिक प्रगतियों का परिचय पाने और सारी स्थितियों की टोह लेने की पूर्ण सुविधा होती है। मेरे कहने का यह प्रयोजन नहीं कि ऊपर आदर्श और यथार्थ वाद की मूल दार्शनिक प्रेरणाओ का जिस रूप मे संकेत किया गया है उसे ज्यों-का-त्यों मान लिया जाय। उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक नहीं था। यहाँ तो उपर्युक्त दोनो वादों की पृथक्ता दिखा देना ही एकमात्र उद्देश्य है।

साहित्य-समीक्षा मे भी ये दोनों विचारधाराएँ पृथक्-पृथक् देखी जा सकती हैं। पहली विचार-धारा के अनुसार 'रस' की

निष्पत्ति संघर्ष से ही होती है, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भले और बुरे के द्वंद्व से। इसी विचार-धारा के आधुनिक प्रतिनिधि पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल है। किन्तु यथार्थवादी इन समस्त द्वंद्वों का समाहार एक नित्य सत्ता में करते है और खुली आँख से उस सत्ता की सम्पूर्ण लीला का रस लेते हैं। यह लीला या अभिव्यक्ति ही रस है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की कोई लीक न बना कर यथार्थवादी सामने आई जगत् की स्थिति मात्र का साक्षात्कार करना चाहता, और उन स्थितियो मे मानव-मन की गतियो का संकलन और कर्त्तव्यो का निर्धारण करने की चेष्टा करता है। वह आध्यात्मिक ऐकान्तिकता या नपीतुली प्रवृत्तिनिवृत्ति की शिक्षा देकर संसार की परिवर्तनशील यथार्थताओ से हाथ समेटने और आँखें मूँदने का अभ्यास न कर संसार की विविध वास्तविकता के अभिज्ञान पूर्वक सर्वव्यापक आत्मा का जागरूक अनुभव करना चाहता है। काव्य मे यह स्वभावतः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक आकर्षित है। यह आँख मूँद कर भले-बुरे का द्वन्द्व नही देख सकता, खुली आँखो सारे रंगो, रूपो, उनकी सम्पूर्ण भंगिमाओ का रस लेगा। संक्षेप मे वह रहस्य की ओर लक्ष्य रखेगा, भले और बुरे के द्वैत की ओर नहीं। इसकी दृष्टि मुख्यतः बौद्धिक होगी और यह किसी गतानुगतिक 'सु' और 'कु' का पल्ला नही पकड़ सकेगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति इसके लिए कोई पूर्व निर्दिष्ट लीक नही होगी, जीवन के पग-पग की ताजी पहचान होगी।

शुक्ल जी की निवृत्ति और प्रवृत्ति एक नपी-तुली और समय-विशेष की निवृत्ति-प्रवृत्ति है। उसका आधार वह जीवन-उपक्रम है जो ' रामचरितमानस ' जैसे महाकाव्य में पाया जाता है। मानस के आदर्श चरित्रों से, जो एक महाकाव्य के ही उपयुक्त हैं, सामान्य जीवन व्यवहारों की बहुरूपता और सामान्यता की आशा नहीं की जा सकती जो नित्य के जीवन में दिखाई देती है। 'मानस ' के अतिरिक्त भी मानव जीवन है, उसकी विपुल आकांक्षाएँ और प्रवृत्तियाँ हैं (जिन्हें हम 'भली' या 'बुरी' विशेषणों से पुकारा करते हैं किन्तु जो हैं प्रवृत्तियाँ ही) किन्तु वह महाकाव्योचित प्रवृत्ति नहीं है। ' मानस ' में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का सूत्र शुक्ल जी ने स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से ही पकड़ा है। उन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक भेदों की ओर उनकी दृष्टि नहीं, जिनका संकेत रामायण में मिलता है। न शुक्ल जी की निगाह काव्य के रहस्यात्मक आधार (भगवत्सत्ता) पर गई है जिसका स्थान स्थान पर कवि ने निर्देश किया है। संक्षेप में, वे केवल बंधी हुई नैतिक और व्यावहारिक परिपाटी से ही सारी मीमांसा करते हैं। जीवन की बहुरूपता और वास्तविकता की ओर उनकी नज़र नहीं है। इसीलिए वे समय की बदली हुई प्रवृत्तियों, नैतिक माप दंडों, मानव के बहुरूप मानसिक उद्वेगों और आकांक्षाओं का, जो नवीन काव्य के अनिवार्य अंग हैं, विचार न कर, रामचरित मानस की आदर्शवादिता तक ही सीमित हैं। और वह आदर्शवादिता भी वैष्णव आध्यात्मिक धारणाओं के

अनुकूल न होकर पाश्चात्य व्यवहारवादियों से अधिक मेल खाती है। उदाहरण के लिए 'रामचरित मानस' जैसे अध्यात्म प्रधान काव्य में 'क्रोध' प्रवृत्ति के रूप में कहीं नहीं आया। वहाँ वह लीला या नाट्य का ही पर्याय माना जा सकता है। किन्तु शुक्लजी क्रोध को अनिवार्य प्रवृत्ति ही नहीं सामाजिक उपयोगिता के भाव में ग्रहण करते हैं। यह 'मानस' के प्रति अन्याय है। दूसरी ओर शुक्लजी व्यवहारवादी दार्शनिको के केवल ऊपरी और स्थूल निर्णयों को ही अपनाते हैं, उनकी भांति सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों के अध्ययन और गतिशील व्यवस्था का निर्धारण नहीं कर सके हैं। यह मैं प्रसंगवश कह रहा हूँ। मेरे कहने का आशय यह नहीं कि रामचरितमानस की आदर्शवादिता काव्य का विषय नहीं है काव्य ही नहीं वह तो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महा काव्य का विषय है। किन्तु मेरा कहना यह है कि मानव जीवन की सीमा किसी भी काव्य या महाकाव्य के आदर्शों से आवद्ध नहीं की जा सकती।

'कामायनी' के कवि के साथ न्याय करने के लिए मुझे ऊपर का अप्रिय प्रसंग उठाना पड़ा। इसके लिए मैं पुनः-पुनः क्षमाप्रार्थी हूँ। प्रसादजी उस शिव-तत्व के उपासक है जिसमें अमृत और हलाहल की सत्ताएँ एक-रस हो गयी हैं। आदर्शवादी तो केवल नीति या अमरता के उपासक होते हैं जो संसार के बहुमुखी जीवन से तटस्थ होकर अपनी एक लीक बना जाते है। कामायनी का आरम्भ ही इस आदर्शवादी, देव-सृष्टि के

विध्वंस के साथ होता है। यह इस बात का संकेत है कि जब देव-सभ्यता का अन्त होता है तब मानव-सभ्यता की सृष्टि होती है। कामायनी का नायक मनु प्रथम मानव है, उसीका आख्यान कामायनी में वर्णित है। यह मनु अमरों का वंशज है, वे अमर जो मर गये! यह एक मात्र मानव है जो देव-सृष्टि का प्रलय होने पर बच रहा है। स्पष्ट ही यह देवताओं से अधिक वीर्यवान होगा। प्रसादजी इसका वर्णन यों करते हैं:—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-स्मशान;
नीचे प्रलय-सिंधु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।

... .

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमे संचार।

वह देवताओं के श्मशान का साधन कर रहा था। अमरो की मृत्यु पर विचार कर रहा था! निश्चय ही वह आदर्शवादी नहीं था, नहीं तो सिर पर हाथ रख कर सिर्फ रोता।

वह पूर्ण युवा था। उसके शरीर की एक झाँकी और लीजिए:—

चिन्ताकातर वदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत।

स्पष्ट है कि उसकी चिन्ता का आवेग केवल आगन्तुक था। यदि एक ओर थोड़ी सी चिन्ता थी तो वह उपेक्षा से भरी हुई, प्रलय की भी परवाह न करनेवाली, यौवन की तरंगिणी में बह गयी। मनु अपने प्रेत-पितरों की चिन्ता छोड़ कर पहाड़ के नीचे उतरा।

नीचे आकर, हरित भूमि में, काम-कन्या कामायनी से उसकी भेंट हुई। यह भी अच्छे अवसर पर आयी। इसकी सुन्दरता की क्या व्याख्या की जाय, काम की कन्या ही थी। संगीत-विद्या सीख कर आयी थी। मनु बेचारा क्या जाने! वह तो पूर्ण पौरुषवान था, किन्तु नारी का उसे क्या परिचय! इसलिए नारी ने ही अपना परिचय आप दे दिया। यह परिचय सुन कर सैकड़ों आदर्शवादी नाक-भौंह सिकोड़ने लगेंगे किन्तु 'मनु' को इससे क्या? वह अब तक का अखंड ब्रह्मचारी अब भी अपनी तपस्या की ही धुन में था। तब कामायनी ने उससे कहा:—

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग,
तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश!

... ...

कर रहो लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी मे सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव-धाम।

और साथ ही वैरागी आदर्शवादियो के लिए भी उसने दो-एक वाक्य कहे:—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है;
है परंपरा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमे जितना बल है।
वे कितने ऐसे होते है
जो केवल साधन बनते हैं;
आरम्भ और परिणामो के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते है।

इसके पश्चात् प्रेमी और प्रेमिका का परस्पर आकर्षित होना तथा अन्य विविध रमणीय प्रसंग वर्णित है जो काव्य के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होंगे,

किन्तु जिन्हें सुन कर तथाकथित आदर्शवादी शायद कोसों दूर भाग जायँ। वास्तविक आनन्दात्मक काव्यप्रतीको का संग्रह, कर्म और संघर्ष का संदेश नई काव्यदिशा का सूचक है।

इसके पश्चात् कामायनी की कथा ऐसे स्थल पर पहुँचती है जो उक्त आदर्शवाद को और भी चुनौती देता है। केवल सुखानुभव और विजय ही जीवन नही है दुःखानुभव और पराजय भी जीवन है। इतने सुख के बाद इस सुखी दंपती के जीवन मे दुःख के दिन भी आते है। कामायनी, मनु और एक उनका बच्चा, घर मे अब तीन प्राणी हो गये है। मनु मृगया को जाते हैं, कामायनी तकली कातती है और बच्चा बढ़ता रहता है। किन्तु यह क्रम अधिक दिन नही चला। मनु की तृप्ति मृगया से ही नहीं हुई। अकेली कामायनी उनका परितोप नहीं कर सकी। मन मे महत्वाकांक्षा जाग्रत हो चुकी थी। वे जीवन की अज्ञात गहनता में प्रवेश करने के लिए उद्विग्न हुए जो आदर्श की बंधी हुई लीक के भीतर निषिद्ध है। वे अपनी प्रणयिनी श्रद्धा (या कामायनी) को छोड़ कर सारस्वत देश पहुँचे। यहाँ की सम्राज्ञी इड़ा को एक राज्य-प्रबन्धक की आवश्यकता थी। मनु इस पद पर नियुक्त कर लिये गये। वे सारस्वत (या बौद्ध) प्रदेश के धीरे-धीरे सम्राट् ही बन गये। किन्तु सम्राज्ञी तो इड़ा (बुद्धि) थी, उसके लिए तो ये प्रबंधक मात्र थे। इन्हे सारस्वत देश के अधिपति बनने से ही सन्तोष नहीं था, ये तो इड़ा के भी अधिपति बनना चाहते थे। यहाँ संघर्ष का सूत्रपात होना अवश्यंभावी था।

मनु ने यह संघर्ष भी मोल लिया। जब सारस्वत देश की प्रजा उनकी इस अनुचित आकांक्षा पर बिगड़ खड़ी हुई तब मनु ने अकेले उसका सामना भी किया। वे सशस्त्र उससे लड़े, पर कब तक लड़ते! एक ओर वे अकेले, दूसरी ओर प्रजा उतनी— लड़ते-लड़ते मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मृत्यु की अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगे।

जिस मनु का इतना उत्थान हुआ था, क्या उसका इतना पतन भी हो सकता है? जिसने सुख के इतने दिन बिताये क्या वह दुःख के ऐसे दिन भी देख सकता है? आदर्शवादी के लिए यह एक टेढ़ा प्रश्न है, किन्तु यथार्थवादी के पास इसका सीधा उत्तर है, क्यों नहीं, इस लीलामय की लीला में सब कुछ हो सकता है। उसने मानव-मन का ऐसा निर्माण किया है कि सुख और दुःख उत्थान और पतन उसकी एक ही झोंक में आते और जाते है। ये सुख दुःख उत्थान-पतन मन की गति पर निर्भर हैं। मन की ऐसी ही गति है, वास्तविकता इतनी ही है। सुख और दुःख उत्थान और पतन तो मानों विवश इस मन के पीछे दौड़ा करते है।

इधर कामायनी (श्रद्धा) का जीवन भी भार हो गया। विना मनु के उसकी स्थिति कहाँ? अकेले पुत्र को लेकर वह कितने दिन रह सकती थी? दुःख की बहुतसी लंबी रातें उसने काटीं। अन्त में एक रात भयानक स्वप्न देख कर वह वहाँ न रह सकी। बच्चे को लेकर वह घर से निकल पड़ी और भटकती हुई बहुत दिनों बाद उसी नगर में जा पहुँची, जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े थे । वह उन्हें

खोजती हुई अन्त में उनके पास पहुँची। मनु के मानों प्राण लौटे। उस समय का दोनो का मिलना कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया है। उस समय के अत्यन्त मनोरम पदों की कुछ बानगी देना चाहता हूँ :—

मनु की उक्ति कामायनी के प्रतिः—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था
तो तुम उसमे संतोष बनी।
कितना है उपकार तुम्हारा,
आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना
संवेदनमय हृदय हुआ।
किंतु अधम मै समझ न पाया,
उस मङ्गल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ
हर्ष शोक की छाया को।

झटका खाकर मनु के जीवन का प्रवाह एक बार फिर उसकी ओर मुड़ा है जिसे वह छोड़ आया था। मनु के जीवन की यह कितनी स्वाभाविक गति है। वह फिर भी कहता है :—

नही पा सका हूँ मै जैसे,
जो तुम देना चाह रही।

क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
मधु-धारा हो ढाल रही।
सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका;
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका !

और अपने बच्चे के लिए जिसे वह छोड़ आया था और जो अब किशोर हो चला है, उसने ये शब्द कहे :—

"यह कुमार मेरे जीवन का
उच्च अंश, कल्याण कला !
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा
हृदय स्नेह बन जहाँ ढला;
सुखी रहे, सब सुखी रहें, बस
छोड़ो मुझ अपराधी को !"
... ...
श्रद्धा देख रही चुप मनु के
भीतर उठती आँधी को।

किन्तु यह आँधी भी धीरे-धीरे प्रशमित हुई। जब मनु को श्रद्धा मिल गयी तब आँधी क्यों न थमती। आखिर पुत्र को सांसारिक अनुभव के लिए वहीं रख कर मनु ने श्रद्धा से कहा :—

"ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने।

मुक्त नील नभ के नीचे,
या कहीं गुहा मे रह लेंगे;
अरे झेलता ही आया हूँ
जो आवेगा सह लेंगे।

इस प्रकार जीवन की संध्या-बेला में दोनों मानसरोवर की ओर चले। जब महान् संघर्ष समाप्त कर राम सीता से मिले तब बाकी क्या रहा ? पर अभिषेक फिर भी बाकी था। यहाँ भी अभिषेक ही बाकी है, किन्तु वह बिलकुल दूसरे ही प्रकार का। इस अभिषेक के अवसर पर कवि मानवजीवन का अमर वैषम्य दिखाता और उनमे सामरस्य का संदेश सुनाता है। मनु और श्रद्धा पहाड़ी घाटियों को पार करते हुए चले जा रहे थे। मनु अब भी बीच-बीच मे विचलित हो उठते थे किन्तु श्रद्धा उनके साथ थी। बड़ी ऊँचाई पर पहुँच कर मनु ने नीचे तीन बड़े-बड़े गोले देखे। पूछने पर श्रद्धा ने बतलाया, ये क्रमशः कर्म, भाव और ज्ञान के क्षेत्र हैं। ये तीनों आएदिन पृथक्-पृथक् हो गये है। कर्म का क्षेत्र काला अथवा तमोगुणी दिखायी देता है—

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता,
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार मे दौड़ लग रही,
मतवाला यह सब समाज है।

'भाव-भूमि' को दिखाती हुई श्रद्धा बोली, यह लाल रंग की, रजोमयी भूमि है। इसमें—

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ
चारो ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।

और अंत में ज्ञान-भूमि का संकेत करते हुए उसने कहा:—

अस्ति नास्ति का भेद निरंकुश,
करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संग किन्तु कर लेते
कुछ संबंध-विधान मुक्ति से!

.. ..

देखो वे सब सौम्य बने हैं,
किन्तु सशंकित हैं दोषों से;
वे संकेत दम्भ के चलते
भ्रू-चालन मिस परितोषों से।
यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो;
बस, इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा! मृषा, वंचित होने दो।
सामंजस्य चले करने ये
किंतु विषमता फैलाते हैं;
मूल सत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं।

आधुनिक संन्यास-मार्ग पर यह काफी कड़ी टिप्पणी है। 'कर्म-भूमि' से प्रसाद जी का आशय शरीर या भौतिक पदार्थों से और 'भाव-भूमि' से तात्पर्य मन या मानसिक पदार्थों से है। ज्ञान-भूमि से प्रयोजन आत्मा या अध्यात्मतत्व है। ये तीनों संप्रति एक दूसरे से पृथक् होकर पतन की अवस्था में पड़े हुए हैं। इस प्रसंग में प्रसादजी ने बड़ी मार्मिक बातें कही हैं जिनकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित होना चाहिए। मनु ने उन सब को देख कर विरक्ति से मुँह फेर लिया। तब श्रद्धा बोली :—

यही त्रिपुर है देखा तुमने,
तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने;
अपने केन्द्र बने दुख सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने!
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडंबना है जीवन की!

आधुनिक जीवन की यह विडंबना प्रत्येक यथार्थवादी को बिना खटके नहीं रह सकती। इसी त्रिपुर (त्रिगुण, या त्रैत) का दाह पुराणों में शिवजी से कराया गया है। कामायनी के कवि ने यह कार्य 'श्रद्धा' की मुसकान द्वारा कराया है :—

महा ज्योति रेखा-सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;

उसे केवल श्रद्धा रूप अंकित करना उसकी स्पर्द्धायुक्त उन्नति में बाधक बनना भी कहा जा सकता है किन्तु कामायनी के कवि का यह आशय स्वप्न में भी नहीं है। उसे नारी को विद्या में, बुद्धि में, चरित्र में, सब प्रकार पुरुष से श्रेष्ठ सिद्ध करना है, साथ ही परस्पर प्रतियोगिता का भाव भी बचाये रखना है। इसी दोहरी मनोवृत्ति के कारण प्रसादजी ने कामायनी को एकदम आधुनिक नायिका नहीं बना दिया। इस संबंध में आधुनिकों को यदि एतराज़ हो तो प्रसाद जी के पास उसकी कोई दवा नहीं !

आधुनिकों की ओर से एक ही आक्षेप की आशंका और की जा सकती है, वह यह कि प्रसादजी ने बुद्धितत्व की अकारण निन्दा की है। स्वयं बुद्धि के द्वारा अपने काव्य का उपादान जिसने इतना बलिष्ठ बनाया वह यदि बुद्धि की निन्दा करे तो यह उसकी अकृतज्ञता भी कही जा सकती है। किन्तु मेरे विचार से बात यह नहीं है। यह 'कामायनी' काव्य प्रसादजी ने मनु या मनस्तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए बनाया है। मनु जितनी बुद्धि का भार सहज रूप से वहन कर सकता है, अथवा जितनी अतिरिक्त बुद्धि वह संभाल सकता है उतनी ही उसे धारण करनी है। उतनी बुद्धि तो श्रद्धा में है ही। किन्तु मनु तो उतने से संतुष्ट नहीं हुआ और बुद्धि का अधिपति बनने का दम भरने लगा। स्पष्ट ही उसका माथा फिर गया था अन्यथा वह ऐसे दुस्साहस का काम न करता। आधुनिक मानव भी तो यही कर रहा है ! वह मन की शक्ति या पहुँच के बाहर

बुद्धि को दौड़ा कर जो भयानक आविष्कार करता जा रहा है उसका परिणाम क्या वह अभी नही भोग रहा ? क्या इसी पद्धति पर चलने से आज निकट भविष्य में ही मानवीय सभ्यता के विनाश की आशंका नहीं हो रही ? कहावत का कोई ऐसा ही व्यक्ति जिसे जगत्-गति नही व्याप्त होती इसका उत्तर नकार मे दे सकता है। इसलिए प्रसादजी ने मन या मानव-शक्ति के परे बुद्धि की संवर्द्धना करने को बुरा बतालाया है, जिस प्रकार शास्त्रकार मनुजी ने 'महायंत्र प्रवर्तन' अर्थात् बड़े-बड़े यंत्र वनाने का निषेध किया था। प्रसादजी का संदेश बुद्धि, भावना और क्रिया का समान विकास करना होने के कारण बुद्धि की एकाङ्गी उन्नति का यहाँ भी निषेध किया गया है। यह मानना संगत न होगा कि प्रसादजी बुद्धि के विरोधी थे, हाँ, वे बुद्धिवाद की 'अति' के विरोधी अवश्य थे।

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अपनी मर्म-ग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण कर प्रसाद जी ने इस सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास मे सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नही यदि हम और गहरे पैठें तो मानव-प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। इस दृष्टि से तो यह मनु-स्मृति के सहस्रों वर्ष बाद मानव-धर्म-निरूपण का महत्वपूर्ण

काव्य-प्रयास है। कोई साधारण योग्यता का कवि इस कार्य में कदापि सफल नहीं हो सकता। इसके लिए मानवीय वस्तु-स्थिति से परिचय रखनेवाली जिस मर्म-भेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है, वह प्रसादजी को प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा; कर्म, भावना और बुद्धि; चर, अक्षर और उत्तम तत्वो को सुसंलग्न कर दिया है। यही नहीं, उन्होंने इन तीनों का भेद मिटा कर इन्हें पर्यायवाची भी बना दिया है। जो मनु और कामायनी हैं, वही आधुनिक पुरुष और नारी भी हैं, यही नहीं शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी वही है। एक की साधना से सब की साधना बन जाती है। महाराज मनु ने एक बार मानव-स्वभाव की कठोर परीक्षा करके मनु-स्मृति की रचना की थी। उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों की नियोजना की थी। इस आश्रम-संस्था के मूल में जो सुदृढ़ और परीक्षित मनोविज्ञान है वह समय पाकर विस्मृत हो गया। प्रसादजी ने उसका काव्यमय रूप पुनः उपस्थित किया है। उसकी ओर लोगों का ध्यान अवश्य आकर्षित होगा। इस काव्य में मनु, मानव या मनस्तत्व के स्वरूप का बौद्ध, योग तथा सांख्य आदि शास्त्रों के विश्लेषण से, वैदिक तथा पौराणिक कथाओं की अनुश्रुति पर, मनुस्मृति का सामयिक अनुशीलन, अनुसरण और संशोधन करते हुए, आधुनिक रुचि के अनुकूल, नारी की महिमा का विशेष रूप से प्रकाश करने के लिए, उल्लेख किया गया है। मनोविज्ञान में

काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी मे शायद शताब्दियों के बाद हुआ है। इसीलिए मैं इस काव्य का अभिनन्दन गोस्वामी तुलसीदासजी की इन स्मरणीय पंक्तियो से करता हूँ:—

अस मानस मानस चख चाही
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही

कवि की इस 'मानस-रचना' को मनकी आँखों से देखने पर प्रकट होता है कि उसमें मनकी नैसर्गिक इच्छाओ और भावनाओके विस्तार का पूर्ण अवसर देकर उसके उदात्त स्वरूप का उद्घाटन किया गया है और साथ ही एक अनुपम समरसता मे सजा कर उसे विशृङ्खल बनने से बचाया गया है। आप कह सकते हैं कि यह समरसता भी अपनी सीमारेखाएँ बना कर रूढ़ि का रूप धारण कर सकती है। संभव है ऐसा हो, किन्तु इस भय से कोई कवि अपने काव्य में आवश्यक संतुलन (Equilibrium) की नियोजना बिना किए कैसे रह सकता है! फिर आप पूछ सकते हैं कि क्या यह पुरानी रूढ़ि के स्थान पर नई रूढ़ि का स्थापन करना नहीं हुआ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि संभव है ऐसा भी हो किन्तु हम यह भूल नही सकते कि नई रूढि में हमें नए जीवन का रस मिलता है जब कि प्राचीन रूढ़ि मे ताजे जीवन-स्रोतों का अभाव ही नही होता, नई जीवनधारा को अपनी कठोर

शिलाओं में दबा रखने की दुश्चेष्टा भी होती है। यह दोनों का अंतर भी कम ध्यान देने योग्य नहीं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कामायनी एकाङ्गी और अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर, व्यापक और बहुमुखी जीवन दृष्टि का संदेश सुनाती और नियोजना करती है।

(१९३७ सितम्बर)

सामाजिक उत्थान

('कंकाल' का एक अध्ययन)

'कंकाल' प्रसाद जी का सामाजिक उपन्यास है। उसका समाज आधुनिक, नागरिक और मध्य श्रेणी का है। थोड़े-से अपवादों को छोड़कर जहाँ भिखारियों का जमघट छत पर से फेंकी गई पत्तल के लिए कुत्तों से छीना-झपटी करता है अथवा दूसरी ओर जहाँ कलाविद् विजय अपने चित्रों की कलात्मक चर्चा करता है, अधिकांश आजकल के मध्यवर्गीय समाज के नित्यप्रति के जीवन के चित्र आए है। इसमें काशी, प्रयाग और हरिद्वार की यात्रा करने वाले गृहस्थ और साधुसंत हैं, स्कूलो की सेवा-समिति के विद्यार्थी, चौक के वेश्यालय, गिरजाघर और पादरी, कचहरी और मुसाफिरखाने भी हैं। इसमें आर्यसमाज और सनातनधर्म की तकरीरें, सूफियों की क़ौवाली और ईसाईयों की मिशनरी भी है। यह सारा समाज हमारा जाना-पहचाना नित्य-प्रति हमारे संसर्ग मे आने वाला है। उपन्यास का समस्त वातावरण हमारे लिए परिचित ही नही, घरेलू सा है। हम उसकी हर-एक हरकत से दिलचस्पी रखते हैं, प्रत्येक प्रगति में उसका साथ देते हैं।

कंकाल एक व्यंग्यपूर्ण उपन्यास भी है। यह प्रचलित समाज के दृढ़ आवरण, उसकी शिष्टता और सभ्यता के कवच

को भेद कर प्रहार करता है और बलपूर्वक हमारी चेतना को जगा देता है। प्रेमचंदजी साहित्य में अपनी मीठी चुटकियों के लिए प्रसिद्ध हैं। ये मीठी चुटकियाँ समाज-सुधार के लिए आवश्यक और उपयोगी होती हैं पर ये मॉडरेट नीति की प्रतिनिधि हैं। इससे भिन्न प्रसाद जी की कंकाल की शैली है। अंग्रेजी के आधुनिक प्रख्यात लेखक एच० जी० वेल्स अपने उपन्यासों में जिस तरह की कठोर कटूक्तियों का प्रयोग करते हैं, कंकाल में उनकी मात्रा अधिक नहीं है पर कंकाल की विशेषता यह है कि इसके व्यंग्य केवल वर्णन-प्रसंग में ही नहीं आए हैं, वे उपन्यास की घटनाओं से ध्वनित भी होते हैं, कथानक के भीतर भी निहित हैं। चरित्रों के सृष्टि में ही व्यंग्य है—जातीयता की दृष्टि से सब-के-सब वर्णसंकर हैं। शुद्ध प्रेम का उसमें कहीं नाम भी नहीं है। वैवाहिक जीवन की एकोन्मुख पवित्रता कहीं देख नहीं पड़ती। धार्मिक विशप साहब 'घंटी' के पीछे पागल हैं। कंकाल के देवनिरंजन कुंभ मेले के सर्वमान्य साधु शिरोमणि हैं, गूँगे के गुड़ की तरह स्वयं ब्रह्मानन्द का रस लेने वाले तथा अगणित भक्तों को पान कराने वाले हैं, पर श्रीचंद की पत्नी, अपनी बाल सहचरी किशोरी की पुत्रकामना पूरी करने का कर्तव्य (?) भी आप ही पालन कर लेते हैं। सेवासमिति का उत्साही और आदर्शवादी छात्र मंगलदेव वेश्यालय से एक युवती की रक्षा करता है, कई महीनों तक उसका संरक्षक बना रहता है और अंत में उसे गर्भवती और निराश्रिता छोड़कर चंपत हो जाता है!

इस तरह के एक नही अनेकों उदाहरण मिलेंगे जिनके चित्रण के भीतर और चरित्र की कल्पना में ही व्यंग्य और विडंबना भरी हुई है जिसके कारण कंकाल और भी सप्रयोजन और बौद्धिक बन गया है।

कंकाल के लेखक का प्रयोजन प्रचलित समाज, उसके विश्वासो, उसकी कार्य प्रणालियो और उसके अनर्थकारी बंधनों (चाहे वे बंधन प्रत्यक्ष हो, मानसिक हों अथवा संस्कार रूप मे ही हों) के विरुद्ध जबर्दस्त प्रोपेगेण्डा करना है। समाज की एक भी मान्यता उसमें स्वीकार नही की गई—सब की जड़ें हिला दी गई है। एक भी ईमानदार आदमी, जिस अर्थ में ईमानदारी मानी गई है, सारे समाज मे नही है। जिसे सामाजिक पैमाने के अनुसार ऊँच-नीच या कुलीन अकुलीन मानते है, उसकी भी खिल्ली उड़ाई गई है। सब के कच्चे चिट्ठे खोल कर रक्खे गए हैं। कहीं शाही घराने की महिषियाँ गूजरो के घरो मे विराजमान है, कही सुसभ्य पादरी साहब स्थितिहीना छोकरी के प्रेम-पाश मे पड़े हुए है। कामना के तीव्रवाही प्रवाह मे हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई जातीयता बही जा रही है। धर्म की समस्त सामाजिक प्रक्रियाएँ मटियामेट हो रही है। इतिहास के आलोक मे कुलीनता का कुहासा साफ हुआ जा रहा है।

एक प्रधान बात जो कंकाल द्वारा पुष्ट की गई और सामने रक्खी गई है यह है कि ऐकान्तिक आध्यात्मिक साधना को जिसमें संसार के छोड़ने का संदेश है, और निवृत्ति प्रधान संस्कृति को

प्रसादजी आदि से अंत तक अव्यवहार्य और आज के लिए हानिकर सिद्ध करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे आध्यात्मिकता के ही विरुद्ध हैं किन्तु आध्यात्मिक साधना का वह स्वरूप उन्हें अरुचिकर है। उसके प्रति अनास्था दिखाना भी कंकाल का एक लक्ष्य है। संन्यास मूलक आदर्शवाद की यह बौद्धिक और यथार्थोन्मुख प्रतिक्रिया है।

इसे ही हम कंकाल का प्रोपेगेण्डा कहते हैं। इस शब्द से हिन्दी के साहित्यिक डरते-से है क्योंकि इसने प्रेमचंदजीको भी बदनाम किया है। पर वास्तव मे यह डर मिथ्या है। प्रत्येक साहित्यकार जीवन और जगत् सम्बन्धी अपने अनुभव और अपनी धारणाएँ रखता है जो उसकी साहित्यिक कृतियों में प्रतिफलित हुआ करती हैं। जिसके ये अनुभव और धारणाएँ जितनी अधिक दृढ़ होंगी और जो जितने अधिक कौशलपूर्वक उनकी शक्ति समेट कर अपने साहित्य में संकलित कर सकेगा, उसकी कृति उतनी ही अधिक प्रभावशालिनी होगी। जब हम कहते हैं कि Les Miserables संसार के शक्तिशाली उपन्यासों में प्रमुख है, तब हम दूसरे शब्दों में उस प्रोपेगेण्डा की ही प्रशंसा करते हैं जो साहित्य-कला के नियमों के अनुसार उसमें मौजूद है। जिन कृतियों में यह बौद्धिक आयोजन नहीं होता वे सरस और सुरुचिपूर्ण हो सकती हैं, किन्तु उन्हें हम शक्तिशाली नहीं कह सकते। इन विचार-वैशिष्ट्य पूर्ण शक्तिशाली कृतियों का साहित्य में एक अलग ही स्थान है। इसलिए हम कह सकते हैं, कि प्रोपेगेण्डा

स्वतः कोई बुरी वस्तु नहीं है। हाँ, जब वह कृत्रिम और कौशल-हीन होकर, अनपेक्षित अवसरों पर आकर अपनी क़ीमत आप ही कम कर देता है तब उसकी ओर सब की उँगली उठती है।

परन्तु हिन्दी मे यह प्रोपेगेण्डा शब्द इतना बदनाम हो गया है कि उससे बचने की चेष्टा जी-जान से की जाती है। स्वयं कंकाल के प्रकाशकीय वक्तव्य मे कहा गया है कि 'ककाल में सामाजिक, धार्मिक और सांसारिक समस्याओं का क्रियात्मक रूप ही अंकित किया गया है किसी प्रकार का प्रोपेगण्डा नही किया गया है,' किन्तु कंकाल में आदि से अंत तक निहित बौद्धिक प्रयास की ओर से हम ऑखे नहीं मूँद सकते और उसके रहते उपन्यास को ऐसी तटस्थता का पद नही दिया जा सकता जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। हमारी सम्मति मे ऐसा करना पाठकों के प्रति ही नही, प्रसादजी और उनके उपन्यास के प्रति भी अन्याय या अधूरा न्याय करना होगा।

(२)

यह सही है कि 'कंकाल' के प्रोपेगेण्डा को समझने की योग्यता हिन्दी भाषी समाज मे अब तक पर्याप्त रूप से नहीं हुई है। कंकाल को इसकी इंतजारी करनी होगी। स्वयं वह तथा उसी शैली की अन्य रचनाएँ अपने लिए क्षेत्र तैयार करेंगी तब काम चलेगा। हमने पुस्तक की एक प्रति अपने एक सुपरिचित उपन्यासों के पाठक महोदय को पढ़ने को दी थी, उनकी उस पर

सम्मति जानने को हम विशेष रूप से उत्सुक थे। वे औसत दर्जे के हिन्दी पाठकों के प्रतिनिधि थे, बहुत सी चीजें पढ़ चुके थे, इसलिए हमें उनकी राय जानने की बड़ी आवश्यकता थी। दूसरी बात यह भी थी कि हिन्दी के औसत सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का पूरा-पूरा प्रभाव उन पर था इसलिए उनके मत की और भी प्रतीक्षा थी। मैंने देखा कंकाल के प्रति उनका कोई असाधारण आकर्षण न था। सब के वर्णसंकर होने की उन्हे शिकायत थी, 'घंटी' के आचरण को वे आदि से अंत तक सदोष बतलाते थे और यदि किसी को अच्छा समझते थे तो अकेले हरिहरशरण गोस्वामी को!

साधारण पढ़े लिखे लोग ही नही, श्री कालिदास कपूर जैसे शिक्षित सज्जन भी कंकाल के दृष्टिकोण को नहीं समझ सके। यह हिन्दी की साहित्यिक परंपरा का ही परिणाम है। समाज के सामने हिन्दी के जो उपन्यास अब तक आए है उनमे किसी प्रकार की द्विविधा नहीं है। उनमें से अधिकांश के कथानक मिलते-जुलते भी है। पात्रो मे कुछ अच्छे और कुछ बुरे बना लिए जाते है और उनका द्वंद्व दिखा दिया जाता है। अंत मे बुरे का बुरा अंत हो जाता है या उसका सुधार कर लेते हैं। इस प्रकार के उपन्यासो के आलोचक जैसे होने चाहिए वैसे ही श्री कपूर भी हैं। आचार्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस आदर्शप्रधान आलोचना शैली की सृष्टि की उसका सम्यक् विकास भी न हो पाया, इतने में ही वे साहित्य की गृहस्थी छोड़

कर उससे तटस्थ हो गए। आगे का मार्ग सूना ही पड़ा रहा—जैसी चाहिए प्रगति न हो सकी।

श्री कालिदास कपूर को यह भ्रम हो गया कि अश्लीलता फैलाना कंकाल का उद्देश्य है और उस भ्रम का कारण यही है कि वे हिन्दी उपन्यासो की उस छिछली धारा मे ही तैरते रहे हैं जिसमे गहरे पैठने भर को पानी ही नही है। उपन्यासों के अच्छे-बुरे होने की परख अब तक यही रही है कि किसमे कितने उच्च आदर्शों का निरूपण है और किसमें नही। किन्तु वे आदर्श समाज की व्यावहारिक स्थितियो का कहाँ तक स्पर्श करते है और समाज के दैनिक जीवन मे उनका कितना और किस रूप मे प्रभाव पड़ रहा है यह किसी को मालूम नही। व्यक्तिगत और व्यैयक्तिक रूप मे जो आदर्श उन्नतिकारक है वे ही सामाजिक संस्था का रूप धारण कर लेने पर किसी समय अत्याचारी और अनुपयोगी भी हो सकते हैं इसकी कल्पना ही नही थी। अश्लीलता क्या है? किसी उपन्यास मे अश्लीलता कहाँ से आरम्भ होती है, श्लील वर्णन कहाँ समाप्त होता है—अश्लीलता स्वयं साध्य बनी हुई है या साधन बन कर किसी अन्य लक्ष्य की ओर हमे ले जाती है, इन बातो की ओर ध्यान देने का किसी को अवसर ही नही था। इसके अतिरिक्त जैसा कि डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी जी कहा करते है कि हिन्दी के शृंगार काल के अनेक सुन्दर संकेतात्मक पद्यो की रस-धारा मे डाक्टर ग्रियर्सन की आज्ञा से लोग कलुष ही देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। यही

हाल कुछ भिन्नता के साथ आधुनिक हिन्दी के कथा-साहित्य का भी हो रहा था।

जो समाज मे रहते हुए भी उसकी वस्तुस्थिति से परिचित नहीं हैं ; वे या तो बहुत बड़े निर्लिप्त दार्शनिक हैं, या बहुत ही दुर्बल और मोहाच्छन्न ! हिन्दी में समय के प्रवाह के अनुकूल अब साहित्य के द्वारा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा भी की जाने लगी है। साथ ही साहित्य की अभिव्यंजना-शैलियो का इस रूप में विकास भी हो रहा है कि उन्हे समझने के लिए बुद्धि का अधिकाधिक आयास आवश्यक है। उन सब से परिचित हुए बिना आलोचक बनने की लालसा रखने पर बँधी हुई प्रतिष्ठा के खो जाने का खतरा भी है। बिना नवीन अभ्यास और अंतर्दृष्टि के साहित्यिक कृतियों का अनुशीलन करना, उनका रहस्य जानना और मूल्य आँकना प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। समय की प्रगति के साथ हमारे साहित्य में भी नई व्यंजना-प्रणालियों, नए संकेतो और नवीन भाव-विन्यास का आगमन हो रहा है। साथ हो नवीन सांस्कृतिक माध्यमों से बहकर आने वाली साहित्य की धारा कुछ नवीन संदेशो और अनुभूतियो को भी साथ लाई है। आधुनिक साहित्य मे यह सब प्रवेश पा रही हैं और पाती जाएँगी। ऐसी अवस्था मे अपने ही संस्कारों के घेरे के भीतर से साहित्य पर फ़तवा निकाल देने का इस ज़माने में कुछ अर्थ नही रहा। कम-से-कम हमे यह आशा तो छोड़ ही देनी चाहिए कि प्रत्येक साहित्य-पुस्तक में राम-रावण की लड़ाई

ही देखने को मिलेगी—नपे-तुले आदर्शों की ही व्यवस्था की जायगी। एक नवीन और व्यावहारिक युग हमारे सामने आया हुआ है। पश्चिम के संपर्क से हमारी परंपरागत मान्यताओ को नया रूप रंग धारण करना और नए सांचे मे ढलना पड़ रहा है। हम में बुद्धिवाद का प्रसार हो रहा है। साहित्य की जटिलता और अनेकरूपता प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस युगजीवन की जागृत और प्राणमय श्वासो का जो अनुभव नहीं करते वे कंकाल के साथ न्याय नहीं कर सकते। हमारे कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि आलोचक किसी साहित्यिक कृति के संबंध में अपने निजी विचार प्रगट करने मे स्वतंत्र नहीं है किन्तु साहित्य और सामयिक जीवन की प्रगतिशील रूपरेखाओ से परिचित हुए विना ऐसा करना दु:साहस ही होगा।

(३)

कंकाल समाज के विरुद्ध विद्रोह करता और व्यक्ति के लिए पूरे पूरे अधिकार चाहता है। समाज के कठघरे मे बंद करके व्यक्ति को बौना बना दिया गया गया है, उपन्यास को यह सहन नहीं है। पाप क्या है ? पाप और कुछ नहीं है, जो कुछ समाज के भय से छिप कर किया जाता है, वही पाप है। कंकाल की इस परिभाषा मे समाज को ही पाप का प्रेरक वतलाया गया है और पाप का दायित्व समाज के ऊपर है तथा समाज और उसके अनुशासनो के बाहर पाप की कहीं सत्ता नहीं है, यह भी स्पष्ट निर्देश किया गया है। पाप की प्रेरणा चाहे भय द्वारा दी जाय,

चाहे प्रलोभन द्वारा अथवा सामाजिक संस्कार मात्र ही पाप के प्रेरक क्यों न हों, उनका उद्गम है समाज से ही। बेचारा व्यक्ति इस परंपरागत पाप-चक्र से इस बुरी तरह दबा हुआ है कि वह क्षण भर के लिए भी अपनी विवशता का त्याग कर स्वतन्त्र नहीं हो सकता। वह एक निश्चेतन समाजचक्र का बलात् काम करने वाला पुर्जा है। वह इस परवश अवस्था से उठ कर एक क्षण भी यह विचार नहीं कर सकता कि अपनी आत्मा ही—हम स्वयं ही पाप और पुण्य के निर्णायक हो; अथवा यदि यह बहुत बड़ी धृष्टता हो तो कम-से-कम इस पाप-पुण्य के मामले मे समाज को अपनी स्थिति का परिचय तो दे दे, इतनी भी उसमें क्षमता नहीं है। समाज ने हमसे सुनवाई की प्रार्थना का अधिकार भी छीन लिया है। और अब स्थिति यह है कि पूर्ण सचेत और महान् संभावनाओं वाला मानवात्मा जड़ समाज यन्त्र के द्वारा निरंतर पीसा जा रहा है। उसके कर्तृत्व, उसकी विचारणा और उसकी भावना के सभी क्षेत्र अवरुद्ध हैं और वह अपने को सब ओर से पंगु पा रहा है।

और इस सामाजिक यन्त्र से लाभ उठाने वाले हैं कौन? मूलतः तो कोई नहीं, क्योंकि सभी अपनी सर्वोच्च स्वतन्त्रता को उसके हाथ बेंच बैठे है। किन्तु तुलना की दृष्टि से इस समाज-यन्त्र का दुरुपयोग करने वाले उच्च पदस्थ और सशक्त व्यक्ति और वर्ग है जो अपने को निरापद बना कर दुर्बलों, अशक्तो और अबलाओं पर विशेष रूप से अत्याचार करने की सहूलियत पा

गए हैं। प्रकारान्तर से पाप का सबसे अधिक भार सिर पर रक्खे हुए भी वे अपने पापों पर कई प्रकार के आवरण डाल लेते हैं, और अपने को अछूता सिद्ध करने में नहीं हिचकते। साथ ही जो नीची सामाजिक भूमियों पर हैं उन पर ये उच्च पदस्थ अन्यायी ऐसे कृत्रिम और जटिल विधि-निषेध लाद देते हैं जिनसे वे कभी छुटकारा पा नहीं सकते। ध्यान देने की बात यह है कि सामाजिक विधि-निषेधों का यह दुर्वह भार उन पर सब से अधिक है, जो सबसे अधिक अशक्त, अपाहिज और दीन-हीन हैं। सामाजिक नियम-बन्धनो का यही क्रियात्मक रूप कंकाल में देखने को मिलता है।

स्मरण रखना चाहिए, कि एक संघटित और चुस्त कथानक के अन्तर्गत रोचक घटना-चक्र और अतिशय रोचक वर्णनशैली में अंकित होकर समाज के अत्याचारों और पाखंडों की यह कथा अतीव मार्मिक हो गई है। कंकाल की यह सफलता हिन्दी में अपूर्व है। आधुनिक अँग्रेज़ी साहित्य मे गाल्सवर्दी के नाटक व्यक्ति पर समाज के अत्याचारों को दिखाते है। विपन्नता के चित्रण मे वे सामयिक साहित्य मे शायद सर्वोच्च स्थान रखते हैं पर उनके पात्रों का अर्थकष्ट हमें उतना अधिक आकर्षित नहीं करता, जितना कंकाल के पात्रों की समाज-पीड़ा, दंभ और दुर्गुणों का भंडाफोड़, नकली और खोखले आदर्शों की निस्सारता, अनर्थकारी बन्धनो की जटिलता के प्रदर्शन पद-पद पर करते हैं। समाज का यह रूप देख कर हम आशंकित और क्षुब्ध होते हैं,

अश्लीलता की शिकायत नहीं करते । ग्लानि, क्षोभ और विडम्बना के भाव ही हम पर अधिकार कर लेते है। इस महाकार दुर्लंघ्य और विवशकारी कालिमा का प्रदर्शन तथा उसके प्रति विद्रोह का सृजन ही उपन्यास का उज्ज्वल लक्ष्य है।

कंकाल के आक्रमण-पक्ष की तीव्रता देख लेने के बाद हमे यह देख कर आश्चर्य नहीं होता, कि उसका निर्माण-पक्ष अतिशय व्यक्तिवादी या एनार्किस्ट (anarchist) है। किसी भी सामाजिक संस्था, प्रणाली या परिणाम में उसका विश्वास नहीं है। व्यक्ति की प्राकृतिक चेष्टाओं, सहज कर्तव्यों, और किसी भी कृत्रिम भार से रहित व्यवहार मे उसकी अटल आस्था है। प्रसाद जी का यह व्यक्तिवाद सात्विक प्रेममय, उत्कृष्ट चेष्टामय, शुद्ध, निर्दंभ, शक्तिमय और सतत आयोजनमय है। प्रसाद जी के काव्य और नाटकों की प्रकृत आभा यहाँ भी है, वही प्रेम वही प्रमोद वही उत्साह जो हृदय के विशुद्ध स्रोत से निकल पड़ा है, किसी, सामाजिक आवश्यकता या संस्कार का ऋणी नहीं। अंतर है तो इतना ही, कि उनके काव्य और नाटको की भूमिका अधिक उदात्त, रहस्यमय और अलोकसामान्य है, जब कि इस उपन्यास का वातावरण अतिशय प्राकृतिक, प्रत्यक्ष और अनलंकृत है। इसके अतिरिक्त मूल प्रेरणाएँ प्रायः एक सी ही है। जो सज्जन प्रसादजी की इस और उन रचनाओं में परस्पर विरोध या विभेद देखते हैं, उन्हे इस दृष्टि से उनकी कृतियों का निरीक्षण करने की सिफारिश की जाती है।

अस्तु, प्रसाद जी का व्यक्तिवाद उनकी सुसंबद्ध विचारधारा का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। क्रिया के अनुरूप प्रतिक्रिया होती ही है। जिसने हमारा अनिष्ट किया है उससे कुछ भी संबन्ध न रखने की प्रवृत्ति स्वभाव-सिद्ध है। कंकाल मे समाज से—उसकी संपूर्ण आस्थाओ और प्रभाव क्षेत्रो से—संबंध विच्छेद का प्रश्न आया है। कंकाल के लेखक को समाज का रोग असाध्य और व्यक्ति की शक्ति अपार जान पड़ती है। प्रसिद्ध जर्मन एनार्किस्ट वेकुनिन राजनीतिक क्षेत्र मे प्रत्येक प्रकार की शासन-संस्था का नाश कर डालने का पक्षपाती था। उसकी यह धारणा थी कि व्यक्ति यदि शुद्ध मानव प्रकृति के नियमो का अनुसरण करे तो किसी प्रकार के शासन की आवश्यकता ही नहीं है। कंकाल मे भी सामाजिक समस्या को लेकर इसी प्रकार की धारणा व्यक्त हुई है। समाज की एक भी रीतिपरंपरा, मान्यता (कुल-शील आदि की) व्यवस्था शुद्ध और साधार नहीं है, न व्यक्ति के लिए उपयोगी है। उपन्यास मे व्यक्ति पर समाज की विवशताओं और उसके परिणाम मे होने वाले अनर्थों और दुःखो को दिखा कर व्यक्ति से पुनः पुनः यही आग्रह किया गया है कि वह अपनी हस्ती को समझे और, आत्मशक्ति का उपयोग करे। समाज का नकारवाद (यह न करो, वह न करो) जो आए दिन केवल उच्चपदस्थ और अधिकारप्राप्त पक्षों का सहायक हो रहा है वास्तविक धर्म का नियामक नहीं—इस नकारवाद की कुछ भी परवा न करके, व्यक्ति अपनी प्रकृति के आदेश को

माने। प्रकृति और अंतरात्मा एक ही है। भाव रूप में जो आत्मा है क्रिया रूप में वही प्रकृति हैं। बस, अंतरात्मा की प्रेरणा से सारे कार्य करने चाहिएँ। यह सब बड़े ही मार्मिक ढंग से उपन्यास मे व्यंजित और ध्वनित है। इस व्यक्तिवाद का बड़ा मोदमय निरूपण 'घंटी' और 'विजय' के चरित्रों मे करने की चेष्टा की गई है। एक हल्के और प्रसन्न वातावरण के द्वारा उन गुरु-गंभीर और बोझीले मनोभावों की चुटकी ली गई है जो सामाजिक विधि-निषेध के भार से आनत हो रहे हैं किन्तु जो गंभीरता वास्तविक चारित्रिक उत्कर्ष की प्रतीक नहीं है, वरं अवसर आने पर धोखा देने वाली है। ऐसे धोखे के कई अवसर उपन्यास में आए हैं।

कंकाल के लेखक को व्यक्ति के शुद्ध स्वभाव पर अटल विश्वास है। प्रिंस क्रोपाटकिन ने डार्विन के सिद्धांतो के प्रतिकूल यह मत उपस्थित किया है कि व्यक्ति पर यदि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रहे, तो उसमें स्वभावतः पारस्परिक 'सद्भाव' और 'सहयोग' की प्रवृत्ति होगी। कंकाल का रचनात्मक कार्यक्रम जो व्यक्तियों के सिपुर्द किया गया है, सुचारु रूप से चल रहा है। इस रचनात्मक कार्यक्रम का प्रतीक उपन्यास का 'भारत-संघ' है।

(४)

यदि आदर्श की ओर ध्यान दिया जाय तो यह आदर्श बड़ा ही उच्च है। जो व्यक्ति स्वतन्त्र और मुक्त है वह सदा हितवस्तु

की ही इच्छा रक्खेगा। सब व्यक्ति ऐसे ही स्वतन्त्र और मुक्त हो जायँ, यही एनार्किस्ट चाहते हैं। उनका मूल विश्वास यह है कि यदि प्रत्येक मनुष्य 'स्वाधीन' हो तो वह कभी संघर्ष नहीं चाहेगा। इसी दृष्टि से एनार्किस्ट प्रोढन ने शासन सत्ता पर आक्रमण करते हुए कहा है कि गवर्मेण्ट का इतना ही लक्ष्य होना चाहिए, कि वह मनुष्यों को बिना गवर्मेण्ट के काम चलाना सिखा दे। यह बड़ा ही श्रेष्ठ आदर्श है पर वर्तमान अर्धसभ्य समाज मे सब व्यक्ति उस ऊँचे स्तर पर कैसे पहुँच सकते है? यह भी विचारने की बात है। व्यक्ति अपनी शुद्ध प्रवृत्ति का आदेश सुन सके और सुनकर उसका पालन कर सके, सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता न रह जाय—जो नियन्त्रण माना हुआ हानिकर है—यह संभव है या नहीं और संभव है तो किस तरह?

कंकाल के लेखक का विश्वास है कि यह सब संभव है और इसके लिए उन्होंने दो व्यवस्थाएँ की है—लोक-शिक्षण की और लोक-सेवा की। व्यक्तिवादी दार्शनिक मिल ने अपने 'लिबर्टी' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि समाज को शिक्षा के लिए विशेष उद्योग करना चाहिए। वह शिक्षा का प्रवेश घर-घर में करे, पर अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्रत्येक व्यक्ति को दी जाय। जो समाज अपने आदमियों को बच्चे पैदा करने की इजाजत देता है पर उनके बुद्धि-संस्कार की व्यवस्था नहीं करता वह अपने कर्तव्य से रहित है और इसके कुफल का स्वयं जिम्मेदार है। कंकाल का 'मंगलदेव' प्रायश्चित्त के व्याज से

लोक-शिक्षण का व्रत लेता है और अनेक कठिन परिस्थितियों में पड़ कर भी उसे नही छोड़ता। अपने हाथों ईंट-गारा जोड़ कर वह पाठशाला स्थापित करता, लड़के एकत्र करता और अपने तथा उनके निर्वाह के लिए भीख माँगता फिरता है। वह असभ्य गूजरों के लड़को को जंगल के एक गाँव मे पढ़ाता देखा जाता है। मंगल-देव मानों एक संकेत है। लेखक का यह उद्देश्य है कि सारे देश में शिक्षा-प्रचार के लिए मंगलदेव जैसे व्यक्तियो की आवश्यकता है। लेखक ने जिस शिक्षा-क्रम का आयोजन किया है वह भी उपयोगी और सरल है। सेवा-कार्य की प्रेरणा कंकाल मे 'भारत-संघ' के द्वारा मिलती है। उपन्यास के अंत मे सेवा-कार्य के शुभ फल फलित होते देख पड़ते हैं। ध्यान देने की बात है कि इस सेवा-कार्य मे स्त्रियों का प्रमुख स्थान है।

कंकाल के लेखक का आदर्श तो व्यक्तिवाद है, पर उपन्यास मे उक्त आदर्श पूरा सफल होता नही देखा जाता। यह स्वाभा-विक और यथार्थ सत्य भी उपन्यास की उल्लेखनीय विशेषता है। जीवन मे नित्यप्रति हम जिस सत्य को देखते है 'कंकाल' मे उसी की झलक है। मानवीय प्रयासों के भीतर एक उज्वल आदर्श की आकर्षक आकांक्षा, उसकी प्राप्ति का मनस्वी प्रयत्न—मानव-धर्म इतना ही है। इस प्रयत्न की सफलता आंशिक हो तो आश्चर्य नही, मनुष्य का निर्माण ही इसी धातु से हुआ है। इस दुनिया मे असफलताओं की अंतिम लड़ी ही सफलता है। कंकाल की आत्मा व्यक्ति की मुक्ति की पुकार उठा रही है पर

वह किसी ओर से पूर्णतः सफल होती नहीं दीखती। उपन्यास का नायक 'विजय' है किन्तु उपन्यास के अन्त मे 'विजय' की हड्डियों का करुण कंकाल देख कर हम द्रवित होते और दुःखान्त उपन्यास का परिचय पाते हैं। समाज के कठोर हाथों से कुचला जाकर नायक 'विजय' का विकास बहुत कुछ दबा रहता है। उसकी साधनाएँ सफल नही हो पातीं। किन्तु उसका समाज-विद्रोही संघर्ष और आयोजन असाधारण उत्कर्ष को प्राप्त हुए है। अंतिम समय मे 'यमुना' और 'घंटी' रूपी सौभाग्य देवियाँ 'विजय' की अंत्येष्टि का सुप्रबंध करती है, इस प्रकार उपन्यास के अन्त मे, यद्यपि 'विजय' का विकृत कंकाल ही नजर आता है, किन्तु आशा और शान्ति के वातावरण मे ही उपन्यास का परदा गिरता है। 'विजय' की मृत्यु ऐसी है जो अन्त में एक करुण, किन्तु सात्विक संतोष का उदय करा जाती है।

नारी और पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण और उनकी स्वतंत्र गतिविधि के हामी होने के कारण ही प्रसाद जी को प्रचलित पवित्रतावादी विचार धारा के प्रति विद्रोह कराना पड़ा है। उनके अधिकांश पात्र इसी विद्रोही मनोभावना की उपज हैं और उपेक्षा तथा भगोड़ेपन का सा जीवन व्यतीत करते हैं। पर यह भगोड़ा पन नवीन सामाजिक और सांस्कृतिक साधना का अंग बन कर आया है। वह अपना विशिष्ट उद्देश्य रखता है निरुद्देश्य वह नहीं है।

कंकाल की आत्मा व्यक्ति की मुक्ति की आवाज़ उठाती है

किन्तु वह किसी ओर से पूर्णतः परिफलित होती नहीं दीखती। इस तथ्य की ओर दुबारा ध्यान देने की आवश्यकता है। यहीं से कंकाल आजकल के पश्चिमी बुद्धिवादियों की कृतियों से अलग हो जाता है जो अपने निरूपित सिद्धांत से एक इंच भी घटना-बढ़ना नही जानते और जिनकी आधार-शिला बौद्धिक तर्कों पर ही स्थित होती हैं, मानवीय परिस्थितियों पर नहीं। विशाल फ्रान्स देश के करोड़ो निवासी आज शताब्दियो से 'जोन ऑफ आर्क' नाम की राष्ट्रभक्त महिला की अर्चना राष्ट्रदेवी के रूप में करते आए हैं। समष्टि में उसका बड़ा ही शुभ प्रभाव फैला हुआ है पर बुद्धिवादी बरनार्डशॉ बड़े अनुसन्धान के बाद एक दिन यह संदेश लेकर निकल पड़े कि 'जोन ऑफ आर्क' डरपोक औरत थी और मरने के पहले उसने कई बार माफी माँगी थी। यह भावना-रहित बुद्धिवाद, बौद्धिक सिद्धांतों और विचारप्रणालियो की प्रतिष्ठा करना चाहता है। इसका लक्ष्य मानव-चरित्र-चित्रण नहीं है। यद्यपि कंकाल भी बुद्धिवाद की ओर उन्मुख है किन्तु प्रसाद जी कोरे सिद्धान्त की अपेक्षा मानव चरित्र और जीवन-व्यापार से अधिक अनुरक्ति रखते हैं। इसलिए उनका यह उपन्यास कोरी बौद्धिक समस्या का साहित्यिक निरूपणमात्र नही है, वह एक सजीव मानव-आख्यान भी है। जीवन-घटनाओं का अनिवार्य प्रवाह भी उसमें है।

यह उपन्यास जहाँ एक ओर बुद्धिवाद की आधुनिक प्रणाली से पृथक् हो गया है वहाँ दूसरी ओर यह उस अव्यवहार्य और

रूढ़ आदर्शवाद को भी प्रश्रय नही देता जिसकी हमारे साहित्य में अतिमात्रा हो रही है। कहा जा सकता है, कि कंकाल मे उस आदर्शप्रधान रचना-प्रणाली की प्रतिक्रिया हुई है जिसके प्रतिनिधि प्रेमचंदजी है। प्रेमचंदजी के 'कायाकल्प' से प्रसादजी के 'कंकाल' की तुलना कीजिए। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का प्रसंग दोनों में आया हुआ है। प्रेमचंदजी ने इस समस्या के समाधान के लिए एक ऐसा महान् नायक खड़ा कर दिया है जो आदर्शवादी प्रणाली के अनुरूप है। उसके व्याख्यानों का वैसा ही असर होता है जैसा किसी महापुरुष का हुआ करता है। किन्तु कंकाल उस परंपरा से छूट कर अलग हो गया है। वह इस सस्ती प्रथा से काम नहीं लेता क्योंकि उसकी अव्यावहारिकता उसकी दृष्टि मे आ गई है। वह सामान्य मानवीय धरातल पर से ही मानो प्रणत होकर कहता है 'ओ दुर्बल मनुष्य, पहले अपने को देख! हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई तो तुझे समाज ने बनाया है। मूलतः तू मानव है। तू अपने को धार्मिक और खानदानी समझता है, किन्तु सच पूछ तो तेरी नस्ल का कोई ठिकाना नहीं है। धार्मिकता और खानदानीपन की आड़ मे तू प्रतिदिन पतित ही होता गया है, जिसका परिणाम यह है कि आज तू अपनी प्रकृत मानवता से वंचित होकर वासनाओं का ग़ुलाम बन गया है। आज तुझमे और तेरे समाज मे एक भी सत्प्रेरणा, सद्गुण और सत्पुरुष नहीं रहा। इसलिए पहले उठकर अपना घर संभाल।' और यह कह कर समाज के मुकुर में उपन्यास हिन्दू-मुसलमान सबका

चित्र दिखा देता है। कहने की आवश्यकता नही कि ये सभी चित्र एक-से भद्दे, कद्रूप और ग्लानि-जनक हैं। साहित्यिक परंपरा की दृष्टि से कंकाल का यह उपक्रम नवीन, तथा समाज की वर्तमान स्थिति को देखते हुए उसकी तजवीज़ कारगर होने वाली है।

(५)

आदर्श की दृष्टि से कंकाल के समाज-विद्रोही व्यक्तिवाद के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यूरोप के समाजवादी और व्यक्तिवादी राजनीतिक दार्शनिकों की कृपा से इस विषय के तर्कों की कमी नही है। यदि एक पक्ष में हर्बर्ट स्पेन्सर, मिल, सिजविक और अनेकानेक फ़्रान्सीसी तथा जर्मन एनार्किस्ट हैं, तो दूसरे पक्ष में भी ओवेन, हक्सले, हीगेल, डार्विन और मार्क्स जैसे समाजवादी हैं। उदाहरण के लिए कंकाल के एनार्किस्ट व्यक्तिवाद के विरुद्ध कहा जा सकता है, कि उसमें व्यक्ति को एकाकी मान कर नित्यप्रति के अत्यंत प्राकृतिक और अनिवार्य सामाजिक सबंधो की अवहेलना की गई है। प्रत्येक सामाजिक संस्था मनुष्य की आवश्यकताओं से बनी है और इतिहास क्रम से उसका विकास होता आया है। इस अकाट्य सत्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया। व्यक्ति में भी वे ही दोष हो सकते हैं जो समाज में है अथवा समाज के दोष वस्तुतः व्यक्ति के ही दोष है। इसका विचार नही किया गया। किन्तु कंकाल का लक्ष्य समाज-संस्था के अनिवार्य दोषो, अवश्यंभावी जड़ताओं, कुसंस्कारों, आदि का प्रतिकार करना है। इन अवगुणो के विप-

रीत वे एक सचेत और सुशिक्षित 'व्यक्तित्व' का प्रतिपादन करते हैं। हमें यह कहते हुए कोई संकोच नहीं है कि उपन्यास के वर्णन और चित्रण क्रम द्वारा प्रसादजी ने अपना पक्ष यथेष्ट प्रामाणिक और प्रभावशाली रूप मे उपस्थित किया है।

किन्तु कंकाल की इस दार्शनिक उपपत्ति के संबंध मे इतना कह चुकने पर अब यह कहने मे कोई आपत्ति नही है कि सैद्धान्तिक ऊहापोह उपन्यास का मुख्य विषय नही है। मुख्य विषय तो है सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगो का चित्रण। इसलिए यह कहना भी अनुचित न होगा कि समाज को वर्तमान विवशताओ और अवरोधों से विक्षुब्ध होकर ही कंकाल की उपर्युक्त विचार धारा संघटित हुई हो तो भी कोई आश्चर्य नही। साथ ही हम यह कह सकते है कि प्रसादजी का व्यक्तिवाद सार्वभौम सिद्धान्त के रूप मे चाहे कंकाल द्वारा यथेष्ट परिपुष्ट न हो सका हो किन्तु वर्तमान उपचार के रूप मे तो उसके प्रयोग अनुभूत और ओषधि अमोघ सिद्ध होगी। इसका कारण यही है कि प्रसादजी समाज के एक सूक्ष्मदृष्टि पारखी हैं, विशेषकर दोषो और दुर्बलताओ को देखने की अचूक क्षमता रखते है। उनके अनुभव का क्षेत्र पुस्तकों तक सीमित नहीं है, वह बहुत ही विस्तृत वास्तविक सजीव और सजग है। हमारा वर्तमान समाज अपनी कुलीनता के थोथे, निष्प्रयोजन, विभेदकारी और ह्रासकारी बंधनो मे आवद्ध है। वह एक निष्क्रिय, गतिहीन और कहीं न ले जाने वाले धर्माभास का शिकार हो रहा है। अशिक्षा के कारण

कर्मण्यता लुप्त है। राजनीतिक और सामाजिक परतन्त्रता हमें जकड़े हुए है। बौद्धिक स्वाधीनता जो नाममात्र को है, वह भी सामाजिक अगतियों के कारण कुंठित हो रही है। हमारा समाज-यंत्र जड़ होकर स्थिर है। अब यह चले तो कैसे? कंकाल हमे सुझाता है कि यह एक समाजव्यापी विद्रोह द्वारा ही गतिशील हो सकेगा और यह विद्रोह प्रारम्भ मे स्वभावतः व्यक्तिगत ही हो सकता है। यही संक्षेप मे कंकाल का व्यक्तिवादी निर्देश या संदेश है। जैसी स्थिति है उसे देखते हुए न तो हमे बहुमत का सहारा है और न राजकीय शक्ति की ही सहायता है। ऐसी अवस्था में हमारे व्यक्तिगत प्रयास ही हमें इष्ट की ओर ले जायंगे और व्यक्तिगत प्रयास के लिए बौद्धिक स्वाधीनता अत्यावश्यक है। कंकाल अपनी सारी शक्ति इसी अर्थ लगा देता है। इसलिए हम कह सकते है कि वह युग के अनुकूल साहित्य-सृष्टि है।

इस समय हमारा देश एक नवीन चेतना से सचेत होकर युगो से तिरोहित हुए प्रकाश की प्रत्यागत ऊषारश्मि मे आँखे खोल रहा है। आज जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्वराज्य की झाँकी हमे मिली है। शक्ति का ऐसा उन्मेष हो रहा है कि यदि कहीं उसका समीकरण हो सके तो नवीन भारतीय राष्ट्र अपने नवीन कला-कौशल, साहित्य, संगीत और ज्ञान-विज्ञान की कृति-सृष्टियो से संसार को चकित कर दे। डॉक्टर एनी बेसेण्ट जैसी विवेकवती विदुषी महिला ने कई वर्ष पूर्व कहा था कि भारत की राष्ट्रीय जागृति में संसार के लिए महान् संभावनाएँ

हैं। भारतीय स्वराज्य में ये सभी संभावनाएँ सन्निहित है। किन्तु राजनीतिक स्वराज्य ही सब कुछ नहीं है, अथवा वह सब कुछ तभी है जब वह हमारी सर्वदिक् स्वाधीनता का हामी होकर रहे। सब दिशाओ से, जीवन के सारे क्षेत्रों से उठने वाली स्वाधीनता की ध्वनियाँ ही आने वाले स्वराज्य का स्वागत-गान बनेंगी। कंकाल व्यक्ति के लिए बुद्धिजन्य और बुद्धिसम्मत क्रियाजन्य स्वराज्य चाहता है। इस स्वराज्य में अधिकार-पत्त के साथ ही कर्तव्यपत्त आपही सन्निविष्ट है, वरं कहना यह चाहिए, कि वर्तमान स्थिति में स्वाधीन बुद्धि से कर्तव्य-पालन और कष्टसहन ही इसका प्रधान अंग है। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपने विधान मे इस स्वराज्य की हामो भरी है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस चेत्र में अभी बहुत सी मंज़िले तय करनी है। तब कही कंकाल का अभीष्ट बौद्धिक और व्यैयक्तिक स्वतन्त्रता-संबंधी लक्ष्य यथेष्ट सफलता प्राप्त कर सकेगा। फिर भी अपूर्ण तो वह रहेगा ही, क्योकि मानव-व्यापार मे पूर्णता है नही। कम-से-कम कंकाल के लेखक की ऐसी पूर्णता पर आस्था नहीं हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इस दृष्टि से हम चाहें तो कंकाल को व्यक्तिवादी कृति न कहकर, व्यक्तिगत साधनावादी कृति कह सकते हैं। इस शब्द के रूढ़ धार्मिक अर्थ को मन से हटा कर खुली आँखो कंकाल को देखने पर, इससे बढ़कर दूसरा उपयुक्त विशेषण उपन्यास के लिए शायद ही कोई मिले। (१९३१ जून)

नवीन दार्शनिक आयोजन

(प्राकृतिक अध्यात्म का शिलान्यास)

प्रसादजी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कवि और साहित्यस्रष्टा तो थे ही, एक असाधारण समीक्षक और दार्शनिक भी थे। बुद्ध, मौर्य और गुप्त काल के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अन्वेषणों पर उनके निबंध पाठक पढ़ चुके है। उनका महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है कि वे इतिहास की सूखी रूपरेखा पर तत्कालीन व्यापक उन्नति या अवनति के कारणों और रहस्यों का रंग चढ़ा देते हैं। व्यक्तियों और समूहो की कृतियो का ही नही उन विचार-धाराओं का भी वे उल्लेख करते है, जिनका सामयिक जीवन के निर्माण मे हाथ रहा है। इस प्रकार प्रसादजी ने इतिहास के अस्थिपंजर को कार्यकारणयुक्त दार्शनिक सजीवता प्रदान की है, जिससे उनका अध्ययन करने मे एक अनोखा आनंद प्राप्त होता है। वे इतिहास को मानवनिर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगो, मनोवृत्तियों और रहन-सहन की पद्धतियों के साथ देखना चाहते है और मनुष्यों की इन सारी प्रगतियो का केन्द्र सम-सामयिक दर्शन को मानते है। इस प्रकार मानव जीवन का अंतःप्रेरण दर्शन को और बहिर्विकास इतिहास को मान कर वे इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देते है। कोरी भौतिक

घटनाओं का इतिहास या कोरा पारमार्थिक दर्शन उनके लिए कोई महत्व नही रखते।

प्रसादजी की इस दृष्टि के कारण भारतीय इतिहास और दर्शन दोनो ही राष्ट्रीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग बन गए है, कही भी इनका विछोह नही होने पाया। जहॉ कही दार्शनिक विवेचन है वहॉ मानवजीवन और इतिहास की पृष्ठभूमि अवश्य है और जहॉ कही किसी राष्ट्रीय मानवीय उद्योग का आकलन है वहॉ भी दर्शन का साथ कभी नही छूटा। 'काव्य और कला' पुस्तक मे प्रसाद जी की साहित्यिक समीक्षाओं का संग्रह है। साहित्य भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया ही है। इसलिए हम देखते है कि प्रसादजी ने इन निबंधो में भारतीय दार्शनिक अनुक्रम का साहित्यिक अनुक्रम से युगपत संबंध तो स्थापित किया ही है प्रसंगवश दर्शन और साहित्य की समानता भी मानवात्मा के संबंध से सिद्ध की है। मुख्य-मुख्य दार्शनिक धाराओ के साथ मुख्य-मुख्य काव्यधाराओ का समीकरण करके इन दोनो का एक इतिहास भी प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक मे हमारे सामने रक्खा है।

प्रसादजी की ये उद्भावनाऍ इतनी मार्मिक है, इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है, और साथही इनकी मनोवैज्ञानिक विवृत्ति इतनी सुंदर रीति से हृदय का स्पर्श करती है कि हम सहसा यह भूल जाते है कि ये अधिकांश एकदम नवीन है, किसी क्रमागत विचारपरिपाटी से इनका संबंध नही है। किन्तु नवीन होना इनका दोष नहीं है, गुण ही है, क्योकि परंपरा-

गत शैली के अनुयायी तो केवल लीक पीट रहे थे। जब उन लीक पीटने वालो से हिन्दी का कल्याण होता नही दीखा और नव-शिक्षित समाज की तीव्र दार्शनिक पिपासा शान्त नहीं हुई तभी तो इस प्रकार की विचारधाराओं और व्याख्याशैलियों की ओर प्रसादजी जैसे दो-चार इने-गिने विद्वानो की अभिरुचि हुई।

किन्तु परंपरागत व्याख्याशैली से दूर हट कर भी प्रसादजी ने प्राचीन सांकेतिक शब्दावली का, वह साहित्यिक हो या दार्शनिक, त्याग कहीं नहीं किया; अपितु अपनी दृष्टि से उसकी यथातथ्य व्याख्या ही की है। न उन्होंने उन पारिभाषिक शब्दों का अनुचित या अन्यथा प्रयोग ही किया है जैसा कि आधुनिक असंस्कृतज्ञ करने लगे हैं। इसका कारण यही है कि प्रसादजी ने दर्शन और साहित्य शास्त्रों का विस्तृत अध्ययन किया था और कहीं भी शाब्दिक खीचतान या अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा नहीं की। यह बात दूसरी है कि उनकी उपपत्तियाँ सब को एक-सी मान्य न हो, किन्तु जिन्हे वे मान्य न हों वे भी उन्हें अशास्त्रीय नहीं कह सकते, क्योंकि उनका आधार शास्त्र ही है। शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नो से छान कर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रामाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।

अब मै प्रसादजी की उन उपपत्तियो को जो इस पुस्तक मे है संक्षेप मे उपस्थित करके ही आगे बढ़ूँगा। 'काव्य और कला' निबंध में प्रसादजी की सब से मुख्य और महत्वपूर्ण उद्भावना

यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं। साहित्य शास्त्र मे काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है और 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू' यह श्रुति भी प्रसिद्ध है जिसमें कवि और मनीषी (अर्थात् आध्यात्मिक) समानार्थी कहे गए हैं। किन्तु जहाँ मान्यता की बात आती है वहाँ आध्यात्मिक क्षेत्रो में इसको अर्थवाद ही मानते हैं, सिद्धान्त रूप में स्वीकार नही करते। किन्तु प्रसादजी इसे सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित करते है। उनका कथन है कि पश्चिमी विचार प्रणाली के अनुसार जहाँ मूर्त और अमूर्त का आध्यात्मिक भेद प्रचलित है काव्य को, मूर्त होने के कारण, आध्यात्मिक सीमा से, जिसमे अमूर्त के लिये ही स्थान है, अलग करने की चेष्टा भले ही की गई हो, किन्तु भारतीय विचारधारा मे ब्रह्म मूर्त भी है और अमूर्त भी। अतः मूर्त होने के कारण काव्य को अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नही कह सकते।

यहीं प्रसादजी ने काव्य की मार्मिक व्याख्या की है—'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है'। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की दो धाराएँ हैं—एक काव्यधारा और दूसरी वैज्ञानिक, शास्त्रीय या दार्शनिक धारा। समझ रखना चाहिये कि इन दोनो मे कोई मौलिक अन्तर नही है, दोनो ही आत्मा के अखंड संकल्पात्मक स्वरूप के दो पहलू-मात्र हैं। कुछ लोग श्रेय और प्रेय भेद से विज्ञान और काव्य का विभाजन करते है किन्तु प्रसादजी का स्पष्ट

नत है कि यद्यपि विज्ञान या दर्शन में श्रेय रूप से ही सत्य का संकलन किया जाता है और काव्य मे प्रेय रूप की प्रधानता है किन्तु श्रेय और प्रेय दोनों ही आत्मा के अभिन्न अंग हैं। काव्य के प्रेय मे परोक्ष रूप से श्रेय निहित है। काव्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि काव्य को 'संकलपात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकलपात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

इस प्रकार मूर्त और अमूर्त की द्विविधा हटा कर प्रसादजी ने श्रेय और प्रेय के झगड़े को भी साफ कर दिया है। इसका यह आशय नहीं कि वे काव्य और शास्त्र में कोई अंतर नहीं मानते। उन्होंने न केवल इनका व्यावहारिक अंतर माना है, प्राचीन भारत की शिक्षापद्धति का भी विवरण दिया है जिसमे इन दोनो विषयों की शिक्षा पृथक् पृथक् दो केन्द्रों में दी जाती थी। शास्त्रीय व्यापार के संबंध में प्रसाद जी स्वयं कहते हैं 'मन संकल्प और विकलपात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकलपात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों को परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमे चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है।'

किन्तु काव्य को आत्मा की संकलपात्मक अनुभूति मान लेने

और संकल्पात्मक अनुभूति की उपर्युक्त व्याख्या कर देने भर से समस्या का समाधान नही होता, बल्कि यहीं से शंकाएँ आरंभ होती है। सब से पहली शंका प्रसाद जी ने स्वयं उठाई है और उसका उत्तर भी दिया है। वे लिखते है ' कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनो ही से पूर्ण होती है इसमे क्या प्रमाण है ?' उत्तर वे यह देते है—" इसीलिए तो साथ ही साथ 'असाधारण अवस्था' का उल्लेख किया गया है। यह असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अंतर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है . जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियो के दर्पण मे प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुंदर और ऊर्जस्वित बनाती है। "

' असाधारण अवस्था ' का इस प्रकार निर्वचन कर प्रसादजी ने काव्य और उसकी व्याख्या को रहस्यात्मक पुट दिया है। वह असाधारण अवस्था क्या है, उसके स्वरूप का अंतिम निर्णय नही हो सकता। अवश्य वह अनुभवजन्य है किन्तु युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अंतर्निहित होने के कारण वह इतिहास की वस्तु भी है। इतिहास के अनुशीलन से उसका आभास हम पा सकते है।

प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक मे उस असाधारण अवस्था का

ऐतिहासिक अनुशीलन भी किया है। उनके इस अनुशीलन से आत्मा की उस असाधारण अवस्था का, जिसे मननशील संकल्पात्मक अनुभूति या काव्यावस्था कहते हैं, जो परिचय प्राप्त होता है, हम बहुत संक्षेप मे उल्लेख कर सकते हैं। यह अवस्था आत्मा की है इसलिए स्वभावतः अवस्था के साथ साथ आत्मा संबंधी विभिन्न युगो की धारणाओं का परिचय प्रसादजी देते गए हैं। आत्मा का विशुद्ध अद्वय स्वरूप आनंदमय है और उस अद्वयता मे संपूर्ण प्रकृति संनिहित है, यह प्रसादजी की सुदृढ़ धारणा और उपपत्ति है। आदि वैदिक काल में इस आत्मवाद के प्रतीक 'इन्द्र' थे और यही धारा शैव और शाक्त आगमो मे आगे चल कर वही। यही विशुद्ध आत्मदर्शन था जिनमें प्रकृति और पुरुष की द्वयता विलीन हो गई थी। शैव और शाक्त आगमो मे जो अंतर है उसे भी प्रसादजी ने प्रकट किया है—'कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को, 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे, वे शैवागमवादी कहलाए। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्तितरंग जगत् में लीन होने की साधना मानते थे वे शाक्तागमवादी हुए।' आत्मा का यही विशुद्ध अद्वय प्रवाह परवर्त्ती रहस्यात्मक काव्य में प्रसरित हुआ इसीलिए प्रसादजी रहस्यात्मक काव्यधारा को ही आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते है। कहने की आवश्यकता नही कि यह शक्ति और आनंदप्रधान धारा थी जिसमे आदर्शवाद, यथार्थवाद, दुःखवाद आदि बौद्धिक, विवेकात्मक और

प्रसादजी के मत से अनात्म वादो का, स्वीकार नही था । दुःख या करुणा के लिए यहाँ भी स्थान था, किन्तु यहाँ वेदना आनन्द की सहायक और साधक बन कर ही रह सकी।

इससे भिन्न दूसरी धाराओं के कई विभाग प्रसादजी के किए हुए है किन्तु स्थूल रूप से उन्हे हम विवेकवादी या अनात्मवादी धारा के अंतर्गत ग्रहण कर सकते है । इन्ही धाराओ के प्रतीक वैदिककाल मे 'वरुण' (जो एकेश्वरवाद के आधार हुए और जिनकी गणना असुरो मे भी की गई) और परवर्त्ती काल में अनात्मवादी बौद्ध थे जो चैत्यपूजक हुए । पौराणिक काल मे इसी दुःखवादी विचारधारा की प्रधानता थी और राम इसी विवेक पक्ष के प्रतिनिधि थे । कृष्ण के चरित्र मे यद्यपि आनन्द की मात्रा कम न थी किन्तु मुख्य पौराणिक विचारधारा—दुःखवाद—से उनकी चरित्र-सृष्टि भी आक्रान्त है । शांकर वेदान्त बौद्धो के दुःखवाद मे संसार से अतीत सच्चिदानंद स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। यह आदिम आर्य आत्मवाद की दुःख से मिश्रित धारा है । यद्यपि इसमे आत्मा की अमरता और आनंदमयता का संदेश है किन्तु संसार मिथ्या या माया की आर्त पुकार भी है । परवर्त्ती भक्ति संप्रदायो के संबंध में प्रसादजी की धारणा है कि ये अनात्मवादी बौद्धो के ही पौराणिक रूपान्तर है । अपने ऊपर एक त्राणकर्त्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखसंभूत दर्शन का ही परिणाम है । यद्यपि प्रसादजी का यह मत है कि 'मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है' किन्तु

भक्ति संप्रदायो में यह प्रेरणा दृढ़मूल नहीं हो सकी और दुःखवादी या रक्षावादी विचारों ने उस पर कब्जा कर लिया। कबीर आदि निर्गुण संत भी दुःखवादी ही थे, समय की आवश्यकता से सच्चे आनंदवादी रहस्यवादियो को उनके लिए स्थान छोड़ना पड़ा।

प्रसादजी ने केवल ये आरोप ही नही किए, इनके लिए प्रमाणों की भी व्यवस्था की है। वैदिक काल के संबंध मे वे लिखते हैं—'सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्द वाली धारा (इन्द्र की उपासना) का अधिक स्वागत किया क्योकि वे स्वत्व के उपासक थे।...आत्मा मे आनन्द भोग का भारतीय अर्यों ने अधिक आदर किया। भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े बड़े यज्ञों मे उल्लासपूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरंभ किया और आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इन्द्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञो की कल्पनाएँ हुईं। किन्तु इस आत्मवाद और यज्ञवाली विचारधारा की वैदिक आर्यों मे प्रधानता हो जाने पर भी, कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य संघ मे दीक्षित नही कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे। . उन व्रात्यों ने अत्यंत प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप मे उपासना का क्रम प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होने विवेक के आधार पर नए-नए तर्कों की उद्भावना की।...वृष्णि संघ व्रज में और मगध में अयाज्ञिक आर्य, बुद्धिवाद के आधार पर, नए-नए दर्शनो की स्थापना करने लगे। इन्हीं के उत्तराधिकारी वे तीर्थङ्कर लोग थे जिन्होने ईसा से हज़ारो वर्ष पहले मगध मे बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःख-

वाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। ....फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि वे बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न, दिगंबर, पानी गरम करके पीने और मुँह पर कपड़ा बाँध कर चलने वाले हुए। इन लोगों के आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे।'

इस प्रसंग को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नही। पाठक मूल मे ही उसे पढ़ेंगे। यहाँ इसी के साथ अब भारतीय साहित्य को प्रमुख धाराओं और अंगों के संबंध मे प्रसादजी की धारावाहिक समीक्षा का सारांश उपस्थित किया जाता है जो उन्होने काव्य की अपनी मूल परिभाषा को स्पष्ट करते हुए की है। ऊपर कह चुके है कि प्रसादजी रहस्यवाद को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते है। यह काव्यात्मक रहस्यवाद वैदिक काल के 'ऊषा' और 'नासदीय' सूक्तों मे, अधिकांश उपनिषदो मे, शैव शाक्तादि आगमो मे, आगमानुयायी स्पंदशास्त्रो मे, सौन्दर्य लहरी आदि रहस्यकाव्य मे तथा सहजानन्द के उपासक नागप्पा, कन्हप्पा आदि आगमानुयायी सिद्धों की रचनाओ मे मिलता है। बीच मे इन रहस्यवादी संप्रदायो के 'बौद्धिक गुप्त कर्मकाण्ड की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृङ्खलता से पार कर चुकी थी।' यही अवसर रहस्यवादियों के ह्रास का था। किन्तु फिर भी इस धारा का अत्यन्ताभाव कभी नही हुआ। पिछले खेवे भी तुकनगिरि और रसालगिरि आदि, सिद्धों के रहस्य संप्रदाय के शुद्ध रहस्यवादी कवि, लावनी मे आनन्द और अद्वयता की

धारा बहाते रहे । प्रसादजी का यह भी स्पष्ट मत है कि 'वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है । वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है । इसमे अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है ।' उनके शब्दो में 'वर्तमान रहस्यवाद की धारा (जिसे छायावाद काव्य भी कहते है) भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं ।'

यह न समझना चाहिए कि काव्यात्मक रहस्यवाद बस इतना ही है । इतना तो वह तब होता जब प्रसादजी की दृष्टि पूर्ण साहित्यिक न होकर मुख्यतः सांप्रदायिक होती । काव्य में जहाँ कहीं वास्तविक आनन्द या रस का प्रवाह है वही आत्मा की संकल्पात्मक प्रेरणा है और वही वह 'असाधारण अवस्था' है, जिसे काव्य की—विशेष कर रहस्य-काव्य की—जन्मदात्री माना गया है । जिन काव्यों का प्रवाह आनन्द के ओजस्वी, आध्यात्मिक स्रोत से उद्रिक्त है, दुःख जिनमे निमित्त बन कर आया है, लक्ष्य नही—जो मुख्यतः प्रगतिशील सृष्टियाँ है—वे सभी प्रसादजी की रहस्य-काव्य की व्याख्या के अंतर्गत आ जाती हैं । प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटक एक प्रधान अंग है । नाटक में रस या आनन्द की प्रधानता मानी गई है । साहित्य के अन्य अंग काव्य, उपन्यास आदि तो दुःखान्त हो सकते हैं किन्तु नाटको के लिए ऐसी व्यवस्था सर्वमान्य रही है कि उसमे दुःखान्त सृष्टि नही होनी चाहिए । प्रसाद जी ने इसका कारण यह बतलाया है कि नाटको

मे आनन्द या रस का साधारणीकरण होता है। प्रत्येक दर्शक अभिनीत वस्तु के साथ हृदय का तादात्म्य करके पूर्ण रस की अनुभूति करता है। वह अभिनीत दृश्यो से एकाकार हो जाता है, इसलिए अभिनीत वस्तु मे न तो व्यक्तिवैचित्र्य (अद्भुत चरित्र सृष्टि) के लिए अधिक स्थान माना गया है न दुःखातिरेक के लिए। इसका आशय यह नहीं है कि नाटक मे दुःख के दृश्यों के लिए स्थान ही नहीं है अथवा आनन्द के, रस के, नाम पर श्रेयहीन प्रेय का ही प्राधान्य है। इसका आशय केवल इतना है कि नाटक मे आत्मा की संकल्पात्मक, सांस्कृतिक प्रेरणाओं की प्रधानता होती है क्योकि वे मुख्यतः जनसमाज के आनन्द के साधक होते है। आए दिन सिनेमा की दृश्यावली मे भी हम इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को पाते हैं, यद्यपि उनमे सर्वत्र श्रेय सुरुचि का ध्यान नहीं रक्खा जाता और न उनकी आनंद धारणा ऊँची मनोभूमि पर उठ पाती है!

प्रसादजी की एक अन्य उपपत्ति यह भी है कि दार्शनिक रहस्यवाद का नाटकीय रस से घनिष्ठ संबंध है। जिस प्रकार रहस्यवाद मे आनन्द के पक्ष की प्रधानता है उसी प्रकार नाटक मे भी। जिस प्रकार भक्ति आदि विवेक और उपासना-मूलक दर्शन को अद्वैत रहस्य मे स्थान नहीं है, उसी प्रकार भक्ति को रस मे गणना नही हो सकती। यह स्पष्ट ही इसलिए कि भक्तिकाव्य के पात्रों और व्यवहारो का नाटक द्वारा रस-रूप मे साधारणीकरण नहीं हो सकता। वे पात्र तो उपासना के है, उनका साधा-

रणीकरण हो कैसे ? इसलिए वे साहित्यिक अर्थ मे नीरस है। साहित्यिक रस तो तभी तक है जब तक तादात्म्य की पूर्ण सुविधा है।

इसी तादात्म्य या साधारणीकरण के प्रसंग को लेकर प्रसाद जी ने वह अत्यन्त मार्मिक दार्शनिक निष्पत्ति की है जिसके आधार पर उनका सारा ऊर्ध्व-लिखित विवेचन स्थिर है। वह निष्पत्ति पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थिर है। अभिनय देखते हुए दर्शक के हृदय मे साधारणीकरण या तादात्म्य के आधार पर जो रसानुभूति होती है, वह साहित्यिक शास्त्र से सर्वथा स्वीकृत है और ब्रह्मानन्द-सहोदर कही गई है। किन्तु साधारणीकरण होता किस वस्तु का है ? अभिनीत पात्रों के प्राकृतिक व्यवहारों और वासनाओ का। इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक वासनाओं का आत्मस्वरूप मे स्वीकार ही रस का हेतु है—वह रस जो ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्मानन्द-सहोदर रस प्रकृति के उपादानों से ही बना है—उनका बहिष्कार करके किन्हीं अलौकिक उपादानो द्वारा नही। दार्शनिक क्षेत्र मे यही उपपत्ति इस प्रकार ग्रहण की जायगी कि आनंद की सत्ता को प्रकृतिवाह्य मानने की आवश्यकता नही है, प्रकृति का आनंद-स्वरूप में अवसान ही वास्तविक अद्वैत है।

यहाँ फिर यह कहने का आवश्यकता है कि प्राकृतिक वासनाओ का जो साधारणीकरण रस रूप में होता है वह श्रेयहीन प्रेय नहीं है, श्रेयपूर्ण प्रेय है। वह प्राकृतिक द्वैत से संयुक्त नहीं

है, आत्मिक अद्वैत से निष्पन्न है। उपकरण प्रकृति है किन्तु आत्मविरहित प्रकृति नहीं। यह रस आत्मा की मननशीलता का परिणाम है, कोई प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं। इसी अर्थ मे प्रसादजी ने काव्य को आध्यात्मिक वस्तु सिद्ध किया है और इसी अर्थ में वे प्राकृतिक सत्ता का आत्मसत्ता में समन्वय करते है।

प्रसादजी का यह मंतव्य है कि आत्मा की यह विशुद्ध अद्वय तरंग जैसी प्राचीन भारतीय नाटको मे प्रवाहित है वैसी अन्य साहित्यिक कृतियो मे नही। उनका कथन यह है कि नाट्य साहित्य में रस, या आनन्द अनिवार्य होने के कारण काव्य की मूल रहस्यात्मक धारा नाटकों मे ही प्रवर्तित हुई। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य भी विवेकवाद से (जो दुःखवाद का ही एक रूप है) अभिभूत है। उनमे से एक (रामायण) आदर्शात्मक विवेकवाद की पद्धति पर रचा गया है और दूसरा यथार्थवादात्मक पद्धति पर। दोनों के मूल मे विवेक या विकल्प का अंश है। पूर्णतः संकल्पात्मक ये कृतियाँ नही है। आदर्शवाद और यथार्थवाद इन शब्दो का प्रयोग स्पष्ट रूप से इस प्रसंग मे न करने पर भी प्रसादजी का आशय यही जान पड़ता है। ये शब्द प्रसादजी ने आधुनिक प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ मे व्यवहृत किए हैं जिसे हम आगे देखेगे। यहाँ समझने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आदर्शवाद मे लोकोत्तर चरित्रो और भावो का समावेश प्रसाद जी ने माना है और यथार्थवाद मे लोकसामान्य घटनाओ, मनोवृत्तियों आदि का। किन्तु ये दोनो ही वाद प्रसाद जी की

संमति में बौद्धिक या विवेकप्रसूत हैं। ये रसात्मक या आनंदात्मक नहीं हैं।

यही नहीं, प्रसाद जी का मत है कि पौराणिक साहित्य से लेकर अधिकांश श्रव्य काव्य (जिन्हें प्रसाद जी ने समयोपयोगी 'पाठ्य काव्य' नाम दिया है) जिनमें कथासरित्सागर और दश-कुमार-चरित्र की 'यथार्थवादी' रचनाएँ और कालिदास, अश्व-घोष, दण्डि, भवभूति और भारवि का काव्यकाल भी सम्मिलित है, बाहरी आक्रमण से हीनवीर्य हुई जाति की कृतियाँ हैं। इनमें प्राचीन अद्वैत भावापन्न 'नाट्यरस' नहीं है। 'आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था (वह रहस्यात्मक प्रेरणा) नहीं है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।'

संक्षेप में प्रसाद जी की मुख्य विवेचना यहाँ समाप्त हो जाती है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि उन्होंने एक ओर आनंद-प्रधान, रहस्यात्मक या रसात्मक और दूसरी ओर विवेकप्रधान, बौद्धिक या आलंकारिक साहित्य की दो कोटियाँ स्थिर की है और उन्हे अद्वैत और द्वैत दर्शन से क्रमशः अनुप्राणित माना है। इस प्रकार का श्रेणिविभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परिचायक है। हिन्दी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में यह प्रायः अश्रुतपूर्व है। अवश्य ही ये श्रेणियाँ बहुत दृष्टि से परस्पर नितांत विरोधिनी नहीं हैं, ऐसी भी संभावनाएँ ध्यान में आती हैं जब ये दोनों ऊपर से एक दूसरे के बहुत निकट आ

जाएँ, किन्तु इनके मूल स्रोतो, लक्षणों और प्रक्रियाओं में स्पष्ट अंतर है। यद्यपि प्रसादजी ने यह बात कहीं स्पष्ट रूप से नहीं कही है और ऐतिहासिक शैली से ही विवेचन किया है तो भी यह कई स्थानो पर ध्वनित होता है कि प्रथम धारा का साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील साहित्य है और दूसरी धारा का साहित्य मुख्यतः ह्रासोन्मुख है। इस विचार से हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो प्रचलित धारणाओं में बहुत अधिक फेर-फार करने की आवश्यकता प्रतीत होगी।

इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के संबंध की प्रसाद जी की दार्शनिक उद्भावना—प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं वरं उसमें पर्यवसान अद्वैत है, और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकल्प है—आधुनिक आध्यात्मिक क्षेत्रों में कम उत्तेजना नहीं उत्पन्न करेगी। यद्यपि विचारपूर्वक देखा जाय तो इसमें प्राचीन प्रवृत्तिमार्ग, अथवा आत्मा की छत्रछाया में निष्काम कर्म की आधुनिक आध्यात्मिक उपपत्ति से विशेष भिन्नता नही है, तो भी प्रकारभेद तो है ही।

प्रसाद जी को संमति में अद्वयता की साधना ही मुख्य साहित्यिक और दार्शनिक साधना है तथा इन दोनो का ही हिन्दी क्षेत्र में प्रायः अभाव है। साहित्य मे वे आनन्द सिद्धान्त के पृष्ठपोषक हैं (हिन्दी के भक्ति और शृंगार दोनो ही कालों में वास्तविक आनन्द की न्यूनता थी) और दर्शन मे शक्तिअद्वैतवाद के संदेश-

वाहक। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में इन दोनों का समन्वय हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी के अन्य आनुषंगिक विचारों का अनुशीलन भी कम उपादेय नहीं है। उदाहरणार्थ रस के प्रसंग में उन्होंने प्रदर्शित किया है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि के साहित्य संप्रदाय विवेकमत की उपज है, अकेला रस-मत ही आनंद-उद्भूत है। एक अन्य निबंध मे आधुनिक साहित्य का हवाला देते हुए आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद आदि कई पारिभाषिक शब्दो का उन्होंने प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि 'श्री हरिश्चन्द्र ने वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण आरंभ किया। - प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो परंतु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी समय हुआ था। ..यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरंभ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरंभ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा। यथार्थवाद की विशेषताओ मे प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।'

यथार्थवाद की यह व्याख्या दार्शनिक की अपेक्षा ऐतिहासिक

अधिक है और श्री हरिश्चन्द्र के समय की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का संकेत करती है। अभाव के साथ ही साथ यथार्थवाद का एक भावपक्ष भी है जिसमे दैनिक जीवन के यथातथ्य चित्रण, काल्पनिक के स्थान पर बौद्धिक दृष्टि, और फ्रायड की सुझाई मनोवैज्ञानिकता का अनुसरण मुख्य है। इस यथार्थवाद के साथ ऐतिहासिक भौतिक विज्ञानवाद (Historical Materialism) और नवीन कामविज्ञान का भी घनिष्ट संबंध हो गया है। सामाजिक समस्याओ का व्यावहारिक नहीं, बौद्धिक समाधान भी इस वाद की विशेषता है। यह वाद सामाजिक उत्थान की निचली सीढ़ी, नींव अथवा जड़ के समीप रह कर ही अपनी उपयोगिता प्रकट करता है, ऊँची सांस्कृतिक भूमियों मे जाने का कष्ट नही करता। उसकी दृष्टि मुख्यतः भौतिक विज्ञान पर स्थित है।

प्रसादजी ने आदर्शवाद के संबंध में लिखा है—'आरंभ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य मे ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तंभ मे किया जाता है।' यह आदर्शवाद की परिपाटी भी ऐतिहासिक है, सैद्धान्तिक नहीं और मेरे विचार से आदर्शवाद की यह अवनतिशील परिपाटी है। अपनी उन्नत अभिव्यक्तियों में आदर्शवाद अतिशय निस्पृह विज्ञान है। किन्तु प्रसादजी जिस ऐतिहासिक आदर्शवाद का उल्लेख करते है, अपने स्थान पर वही ठीक है। वाद के रूप मे

आदर्श को प्रसादजी दुःखवाद की ही सृष्टि मानते हैं। इसीलिए वे कहते भी हैं—' सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। स्पष्ट ही यहाँ प्रसादजी ने यथार्थ और आदर्श दोनों ही वादों को विवेकप्रसूत माना है आनन्दोद्‍भूत, अद्वैत अथवा सच्चा सांस्कृतिक नहीं। इसीलिए प्रसादजी की ये व्याख्याएँ प्रचलित पारिभाषिक व्याख्याओं से कुछ भिन्न हो गई हैं।

प्रसादजी स्पष्ट ही इन दोनों वादों का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि ' सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है वह महत्त्व और लघुत्त्व दोनो सीमान्तों के बीच की वस्तु है; यहाँ महत्त्व और लघुत्त्व के दोनो सीमान्तों से प्रसादजी का तात्पर्य ऐतिहासिक आदर्शवाद और यथार्थवाद के सीमान्तों से है। दार्शनिक सीमान्तो की ओर यहाँ उनकी दृष्टि नही है।

इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रसादजी सिद्धान्ततः मध्यवर्गीय थे। प्रसादजी आदर्शवाद और यथार्थवाद की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उनके रहस्यवाद या शक्तिसिद्धान्त मे दोनो के अंश हो सकते हैं किन्तु दोनो की सीमाएं नही हैं और दोनों की मूल दुखात्मकता का भी निषेध है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसका नाम छायावाद पड़ा और ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें उक्त दोनों वर्गों (आदर्शवाद और यथार्थवाद) की मध्यस्थता के चिन्ह भी संभव है मिलें, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह अद्वैत पर स्थित है और वे दोनो वाद द्वैत पर। प्रसादजी ने इस अन्तर का ही अधिक आग्रह किया है। उनकी मीमांसा से प्रकट होता है कि छायावाद ऊपरी दृष्टि से तो यथार्थवाद के ही निकट है (ऐसा कहते हुए उनका ध्यान आरंभिक आदर्शवादी छायावादियो की ओर नही गया जिनकी एक प्रतिनिधि रचना 'साधना' है) किन्तु प्रसादजी की संमति मे यथार्थवाद श्रीहरिश्चन्द्र के 'भारत दुर्दशा' आदि में स्थूल, बाह्य वर्णनो तक ही सीमित रहा, और दुःखप्रधान था। छायावाद मे 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी। .. वे नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावो के व्यवहार मे प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था।'

यह प्रबल नवीन उत्थान किसी मध्यवर्ग के मान का नही था। इसके लिए नव्य दर्शन की आवश्यकता थी। यह नवीन दर्शन अद्वैत रहस्यवाद ही है जिसके अनुसार 'विश्वसुन्दरी प्रकृति मे चेतनता का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है जिसकी सौन्दर्यमयी व्यंजना वर्त्तमान हिन्दी मे हो रही है।' छायावाद एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी है और दार्शनिक अभ्युत्थान भी। प्रसादजी का यह

स्पष्ट मत है कि दार्शनिक दृष्टि से यह अभ्युत्थान प्राचीन रहस्यात्मक परंपरा में है जिसे भूले भारत को वहुत दिन हो गए थे।

× × ×

'नाटको का आरंभ' और 'रंग मंच' पर प्रसाद जी के दो निबन्ध उनकी उपर्युक्त पुस्तक में हैं जिन्हे मूल में ही अध्ययन करने की आवश्यकता है। यहाँ उनका विवरण अधूरा और अप्रासंगिक भी होगा क्योंकि उनमें व्याख्येय कोई विशेष वस्तु नहीं है, सब-का-सब विवरणात्मक है।

चार प्रश्न और भी विचारणीय हैं—वे चारो पहले ही निबन्ध (काव्य और कला) के हैं। वे उक्त पुस्तक के मूल प्रश्नों में से नहीं हैं, इसीलिए अब तक छूटे हुए थे। किन्तु अपने स्थान पर वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं। पहला प्रश्न कला की परिभाषा और दूसरा मूर्त और अमूर्त आधार पर कलाओं के वर्गीकरण का है। तीसरा काव्य पर राष्ट्रीय संस्कृति के प्रभाव और अन्तिम प्रश्न काव्य में अनुभूति की प्रधानता का है। 'कला' शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला केवल छंद-रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य नही 'समस्यापूर्ति' की गणना कला में की गई। स्पष्ट ही काव्य केवल समस्यापूर्ति नहीं है, समस्यापूर्ति या छंद तो उसका वाहन-मात्र है—विना सवार का घोड़ा। पाश्चात्य अर्थ मे कला सवार सहित घोड़ा है इसलिए उसकी शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक संस्कृति मे उसका स्थान स्वभावतः भिन्न होना ही चाहिए।

कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न कला के पाश्चात्य अर्थ में है। चित्र, संगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि कलाओ के वर्गीकरण का कुछ क्रम आवश्यक है। हीगेल ने कलाओं के मूर्त्त आधार को लेकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता के विभेद से वर्गीकरण किया है जिसके अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म, भावमय होने के कारण साहित्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। और सब से नीचे स्थापत्य का स्थान है क्योंकि उसका उपकरण अपेक्षाकृत स्थूल है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यह विभाजन व्यावहारिक है और इन कलाओं की वास्तविक उच्चता या नीचता का परिचायक नही। काव्य भी निम्न कोटि का हो सकता है। सुन्दर मूर्ति उससे कही श्रेष्ठ कला-वस्तु मानी जा सकती है। हीगेल का प्रयोजन इतना ही है कि और सब बाते बराबर हो तो काव्य का स्थान उसके सूक्ष्मतर उपकरण के कारण सर्वोच्च होगा और उसके नीचे क्रमशः संगीत, चित्र, मूर्त्ति और स्थापत्य कलाएँ होंगी। कला के उत्कर्ष-अपकर्ष की तुलना यहाँ नहीं है। वह तो एक-एक कलावस्तु की समीक्षा द्वारा ही हो सकती है। यहाँ तो केवल व्यावहारिक विभाग की चर्चा है। इस सम्बन्ध मे मतभेद के लिए विशेष स्थान मुझे नहीं दिखाई देता।

तीसरा प्रश्न काव्य साहित्य पर राष्ट्रीय संस्कृति की छाप का है। यह निश्चय है कि काव्य मे राष्ट्र की स्थायी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी ने इसका एक सुन्दर उदाहरण भी दिया है :—" यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय

साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है। इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्रीधर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।" देशान्तर और जात्यंतर से इस प्रथा में भिन्नता भी पाई जाती है। इसलिए काव्य के देश-जाति-गत कुछ स्थायी उपलक्षण (Conventions) मानने पड़ते हैं।

अन्तिम प्रश्न काव्य में अनुभूति या अभिव्यक्ति की प्रधानता विषयक है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यक्ति की ही प्रधानता स्वीकार करता है, किन्तु प्रसादजी अनुभूति की प्रधानता मानते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों का उदाहरण सामने रक्खा है—सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास का। वे पूछते हैं—'कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गए हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्दविन्यासपटुता नहीं थी जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके?' प्रश्न का उत्तर भी वे देते हैं 'मैं तो कहूँगा, यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस

विषय की प्रधानता के कारण।...तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्रजी की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।'

प्रसादजी का यह उत्तर सोलह आना सत्य है किन्तु अभिव्यञ्जनावादियों का प्रश्न यह है कि अनुभूति है क्या वस्तु ? एक ओर तो कवि को अनुप्रेरित करने वाले सृष्टि के वस्तु-व्यापार हैं और दूसरी ओर है कवि का काव्य या अभिव्यक्ति। इन दोनो के बीच में अनुभूति है। यह अनुभूति काव्य-व्यापार में कहीं भी स्वतंत्र नहीं है। एक ओर वह बाह्य अभिव्यक्ति (संसार और उसके भावादिकों) से प्रतिक्षण निर्मित होती है और दूसरी ओर काव्याभिव्यक्ति मे परिणत होती है। केवल अनुभूति काव्य का कोई उपादान नहीं। अनुभूति चाहे जितनी हो, काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्यनिर्माण के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आवश्यक है। अभिव्यक्ति केवल रचनाकौशल नही है, अनुभूतिपूर्ण रचनाकौशल है।

प्रसादजी का इस मत से कोई विरोध नहीं है, किन्तु वे इसकी छान-बीन में उतरे नही हैं। हॉ, वे अभिव्यञ्जनावादियों की भॉति अनुभूति को गौणता न देकर उसे मुख्य मानते हैं। अनुभूति का निर्माण कैसे होता है, यह तो प्रश्न ही दूसरा है। वस्तुतः वे अनुभूति को मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था मानते हैं,

और अभिव्यञ्जनावादियों की व्यक्त बाह्य प्रक्रियाओं को विशेष महत्त्व नहीं देते। अभिव्यञ्जनावादी क्रोसे और रहस्यवादी प्रसाद में इतना ही मुख्य अन्तर है।

(१९३९ मार्च)

परिशिष्ट

स्वतंत्र नाट्यकला का आभास

'प्रसाद जी के दो नाटक'—इस नाम की एक पुस्तक श्रीयुत कृष्णानन्द गुप्त ने गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ से प्रकाशित कराई है, जो वास्तव में उनके लिखे हुए दो लेखों का संग्रह है। ये लेख श्री जयशंकर प्रसाद जी के 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नाटकों की समीक्षा के रूप में लिखे गए थे और अब ये पुस्तकाकार हमारे सामने उपस्थित हैं। हम देखते हैं कि 'स्कंदगुप्त' की समीक्षा छोटी है, शिथिल भी है और अनुभव करते हैं कि पुस्तक का मूल्य १) रु० रखने के आशय से जोड़ दी गई है। पर वास्तव में उससे पुस्तक का मूल्य घटता है, बढ़ता नहीं। 'चन्द्रगुप्त' की समीक्षा लगभग सवासौ पृष्ठों मे समाप्त हुई है और उसके पहले लगभग पन्द्रह पृष्ठों की भूमिका दी गई है जो अधिकांश मे बेकार-सी है। 'चन्द्रगुप्त' समीक्षा में कृष्णानन्द जी की तर्कशक्ति का चमत्कार दर्शनीय हुआ है। पाठकों को धाराप्रवाह बहा ले जाने वाली यह समीक्षा स्वयम् ही एक स्वतंत्र रचना बन गई है।

यह वैसी ही चीज़ है जैसी बरनार्ड शा की लिखी नाटक-समीक्षायें अथवा स्वयम् बरनार्ड शा पर लिखी गई मिस्टर जी० के० चेस्टरटन की 'जार्ज-बरनार्ड शा' नाम की आलोचनात्मक जीवनी। वैसी ही चीज़ का यह अर्थ नही कि यह उतनी ही मार्मिक चीज़ है; अर्थ है कि वह उसी प्रणाली पर लिखी गई है।

शा महाशय ने अपनी नाटक-समीक्षाओं की संग्रहपुस्तक में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उन्होंने वे समीक्षायें इतनी तीव्र इस लिए लिखी हैं कि उन्हें स्वयम् ही उस (नाटकों के) क्षेत्र में आकर काम करना था और जीविका अर्जित करनी थी। फिर उन्होंने चेस्टरटन की लिखी अपनी जीवनी पढ़ कर यह सम्मति दी कि यही सब से श्रेष्ठ पुस्तक है जो मुझ पर लिखी गई है। अंग्रेजी के पाठक जानते हैं कि मिस्टर चेस्टरटन श्रीयुत शा के नाटकों के प्रशंसक नहीं हैं और उन्होने 'शा की जीवनी' में उनकी एकाङ्गिता का बड़ा ही मार्मिक उद्घाटन किया है। तथापि शा विचलित नही हुए और उन्होंने दूसरे दृष्टिकोण को स्वीकार किया। श्रीकृष्णानन्द की भूमिका में जो वैमनस्य का भाव झलकता है वह उनकी चन्द्रगुप्त-समीक्षा के योग्य नहीं हुआ। यदि इस वैमनस्य को वैमनस्य कह कर वे स्वीकार करते, जैसा कि कुछ विद्वान पाठक स्वीकार ही करेंगे तो पुस्तक को अधिक यथार्थ पद प्राप्त होता। तथापि हम यह स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त-समीक्षा प्रसाद जी के सम्बन्ध में लिखे गए अधिकांश साहित्य से अधिक सुगठित और शक्तिशाली हुई है।

किन्तु समीक्षा का आधार बहुत अधिक भ्रामक है। मूल में ही जो अशुद्धि है उसीसे सम्पूर्ण पिंड की उत्पत्ति हुई है। जब गुप्त जी ने 'सुधा' में क्रमशः प्रकाशित होने वाली आलोचना का प्रथम खंड हमारे देखने के लिए भेजने का कष्ट किया था तभी हमने संकेत रूप में दो-चार पंक्तियां लिख कर भेजी थी

जिन्हे उन्होंने अपनी भूमिका में उद्धृत किया है—"मै समझ रहाहूँ आपको डी० एल० राय बहुत अच्छे लगते होगे क्योकि वे आदि से अंत तक पात्रो को एकरस रखते है" यद्यपि भूमिका मे गुप्त जी हमारे इस आरोप को स्वीकार नही करते तथापि उनकी समीक्षा के मूल मे ही वह विद्यमान है। समीक्षा की प्राथमिक पंक्तियों में ही वे लिखते है "आधुनिक नाट्यकार जिस प्रकार मनुष्यचरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द मानते हैं मेरे लिए उसी प्रकार समस्त नाटक एक ही दृश्यपट पर खेला जा रहा है।" इस एक ही पंक्ति मे गुप्त जी ने अपनी सम्पूर्ण समीक्षा की दिशा दिखा दी है, हमने इसी पंक्ति का सार समझ कर गुप्त जी की उपर्युक्त पंक्तियां लिखी थी और अब नीचे उसी पर फिर लिखने की आवश्यकता है।

"आधुनिक नाट्यकार मनुष्य चरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द मानते हैं।" ये कौनसे आधुनिक नाट्यकार हैं और क्या वे नाट्यकार नाट्य-समीक्षक भी है? आश्चर्य की बात है कि जब हम प्रचलित यूरोपीय साहित्यमें सब से आधुनिक और प्रतिष्ठित नाट्य-समीक्षको को एक स्वर से यह कहते सुन रहे है कि नाटक की समीक्षा अन्य ललितकलाओ की समीक्षा से बिलकुल भिन्न, अभिनय के सम्पूर्ण साजबाज और वातावरण को ध्यान में रख कर करनी चाहिये तब श्रीयुत गुप्त इन 'मनुष्य चरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने मे आनन्द मानने वाले' नाट्यकारों की

उद्भावना कर रहे हैं। नाटक सचमुच ललितकला नहीं है। हमारे भारतीय नाट्यशास्त्र में भी जिस विस्तार के साथ रस पद्धति पर विचार किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटक का प्रभाव उसकी संपूर्ण दृश्यावली के भीतर पात्रो की रूपरेखा, अंग संचालन से लेकर सीन-सिनरी के समुचित चमत्कार तक के द्वारा पड़ता है। आधुनिक नाट्य समीक्षक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि नाटक की समीक्षा करते हुए दर्शकों के कार्य शिथिल, बुद्धिशिथिल भाव का भी विचार रखना चाहिए। ये जो नाटकों के विजयी प्रतिद्वंदी सिनेमा के चलचित्र आविर्भूत हो गए हैं, इनका कारण एक बड़े अंश में दर्शको की रूपलालसा ही है। परन्तु कृष्णानन्द जी ने जिस काल्पनिक प्रक्रिया से 'चंद्रगुप्त' का अभिनय देखा है वह नाटकीय-समीक्षा के साथ न्याय करने की दृष्टि के बहुत अधिक अवास्तविक हो गया है।

"मेरे लिए समस्त नाटक एक ही दृश्यपट पर खेला जा रहा है"—यह तो प्राचीन अविकसित ग्रीक अभिनयों और भारतीय रासमंडलियों को आधुनिक शोभाशाली नाट्यगृहों पर कब्जा करने देने का उपक्रम हुआ। आधुनिक नाट्यसमीक्षा की यह शैली तो नहीं हुई। परंतु श्री गुप्त इसी शैली को लेकर चले है। इस शैली का अर्थ ही यह होता है कि आप नाट्यसमीक्षा के साथ अन्याय करेंगे। आप एक एक पात्र की एक एक बात को इतना अधिक तूल क्यो न दे जब कि वे बातें ही एक मात्र आप के सामने हैं। इसी तूल देने के कारण तो समीक्षा उस रूप में ढल गई है

जिस रूप में ढलने के कारण 'पात्रों को एक रस' देखने की शिकायत की गई थी। 'एकरस' देखने के लिए श्री गुप्त अपनी समीक्षा-शैली के कारण बाध्य हो गए हैं, अनिच्छापूर्वक ही सही। इसके साथ ही अज्ञातरूप मे उनकी भावुकता भी अपना करामात दिखाती, पात्रो को और अधिक जकड़ कर (Stereotyped) मूर्तिवत् बना देना चाहती है। नाटककार स्पष्ट रीति से यह वार्ता स्वयम् नन्द के मुख से कहा रहा है कि एक दिन के लिए राजधानी के नागरिको के साथ वह समारोह मे सम्मिलित हो रहा है। अन्यत्र उसने यह संकेत भी कराया है कि नंद बड़ा ही कठोर प्रकृति का शासक है। परंतु इन दोनो कथनों का गुप्त जी ने अपने मस्तिष्क में संग्रह किए बिना ही नंद की विलास-चेष्टाओ का एक दृश्य देख कर मानो उन चेष्टाओं को ही मूर्तिमान् नंद समझ लिया। आगे का उद्गार इसका साक्षी है—

'विलासिता का वह नग्न रूप जिस दिन प्रजा देख लेती है, उस दिन छत्रधारी नरेशो के राजमुकुट अपने आपही स्खलित होकर धूलि में लोटने लगते है। उसके लिए फिर चाणक्य और उसकी भीमशक्ति की जरूरत नही रहती।"

यह कोरी भावुकता समीक्षा मे नाटककार के हल्के चित्रांकण की प्रशंसा करने मे असमर्थ और चित्र में मोटी-मोटी गहरी रेखाएँ देखने का आग्रह करती है। हिन्दी में यह भावुकता अपनी अतिशयता में व्याप्त है—यह भिन्न भिन्न रचनाकारों के प्रकृति भेद के साथ कभी न्याय नहीं कर सकती। इस भावुकता के बहुत

से उदाहरण गुप्त जी की समीक्षा में देखने को मिलते है। आरम्भ का ही एक नमूना:—नंद—(चाणक्य से) " ब्राह्मण तुम बोलना नहीं जानते हो तो चुप रहना सीखो। "

चाणक्य—" महाराज उसे सीखने के लिए मैं तक्षशिला गया था.. इसलिए मेरा हृदय यह नहीं मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ। "

इसमे स्पष्ट ही चाणक्य के उत्तर मे नन्द के प्रति एक मीठी चुटकी है कि तुम्हारे राज्य मे इस बात की शिक्षा नही है, जानकारी नहीं है कि किस अवसर पर चुप रहना चाहिए। मुझे उसे सीखने के लिए तक्षशिला जाना पड़ा। अतः मैं मूर्ख नहीं हूँ......"

राजसभा की शिष्टता की रक्षा करते हुए यही सब से श्लाघनीय उत्तर चाणक्य दे सकता था किन्तु गुप्तजी लिखते है ' राजसभा में उसकी (चाणक्य की) यह दुर्बलता हो सकती है किन्तु श्लाघनीय नही। ' इसी तरह के अनेक हल्के स्वाभाविक चित्रण श्री गुप्त की आस्वाद सीमा के बाहर है। और प्रसाद जी की नाटकीय कला में ऐसे ही चित्रणों का बाहुल्य है। फिर मेल कैसे मिले ?

प्रसादजी की नाट्यकला जहाँ एक ओर डी० एल० राय की सी भावप्रधान और एकरस नहीं है, मनोवैज्ञानिक और व्यवहारिक आधार लिए हुए है, वहाँ दूसरी ओर वह ' इब्सन ' अनुयायिनी भी नहीं है। कृष्णानन्दजी की समीक्षा का दूसरा मुख्य आधार है

'इब्सोनियन रंगमंच, इब्सोनियन अभिव्यक्ति शैली और इब्सोनियन बुद्धिवाद।' इन मापदंडों को लेकर वे प्रसादजी को नापने चले हैं। यह स्पष्टतः एक अनौचित्य ही नहीं, सरासर अन्याय भी है। प्रसादजी की परीक्षा उनकी अपनी अभिव्यक्ति शैली, नाटकीय विन्यास और कला के आधार पर ही की जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी न तो इब्सन की यथार्थवादी अभिव्यक्ति और न उनके बुद्धिवाद को ही ग्रहण करने को तैयार थी। इस संबंध में स्वयं प्रसाद जी के विचारो को उद्धृत करना अधिक अच्छा होगा। इब्सन के पदचारी नवीनता के खोजी हिन्दी नाट्य-समीक्षको के लिए वे कहते हैं—

"युग के पीछे हम चलने के स्वांग भरते है, हिंदी मे नाटको का यथार्थवाद अभिनीत देखना चाहते है और यह नही देखते कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटको का फिर से सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटको के सवाक् चित्र बनाने के लिए, उन ऐतिहासिक व्यक्तियो की स्वरूपता के लिए, टनो मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज मे इब्सनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यकला मे अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रमविकास कैसे किया जा सकता है, यदि हम पश्चिम के 'आज' को ही सब जगह खोजते रहेंगे। और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगो के सोचने का

निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है। अनुकरण मे फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का नियंत्रण नही करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुंदर निर्माण के लिए। कलाओ का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी जल्दबाजी बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है जो नाटक के संबंध में विचार करने वालो को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है किन्तु अधिक उछलने मे पदस्खलन का भी भय है। साहित्य मे युग की प्रेरणा भी आदरणीय है पर इतना ही अलं नही। जब हम यह समझ लेते है कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुकरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है। इसलिए साहित्य मे हमको एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए।.... पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नए को नही पाया है।"

इस लंबे उद्धरण से सर्वांशतः हम चाहे सहमत न हों किन्तु इसमें बहुत सी सारगर्भित बातें हैं जिनकी ओर नवीन नाट्य समीक्षक बिना ध्यान दिये नहीं रह सकते। इब्सन के अतिरिक्त भी नाटक और नाट्यकला है, भिन्न नाटकीय टेकनीक और अभि-व्यक्तियाँ हैं, उनकी अपनी विशेषताएँ हैं, उनका अध्ययन उन्ही

के अनुकूल होना चाहिए, इतना भी विचार कृष्णानन्दजी ने अपनी समीक्षा में नहीं रक्खा ।

समीक्षा में एक और विक्षेप इस कारण उपस्थित हुआ है कि श्री कृष्णानन्द इतिहास की पुस्तक लेकर नाटक देखने बैठे हैं। ऐसा कोई नहीं करता। फिर उनकी यह धारणा भी प्रकट हो रही है कि इतिहास के वर्णन से नाटक का चित्रण अधिक प्रभावशाली होना ही चाहिए। पर इसका क्या अर्थ है ? इतिहास का रंगमंच विस्तृत, उसके पाठक की कल्पना भी उतनी ही विस्तृत, सदैव उसके साथ रहती है। नाटक की छोटी रंगशाला से उसका क्या मुकाबला ? नाट्य रचना मे कथानक, अभिव्यक्ति, चरित्रविकास और जीवन व्यापार के बाहुल्य, उत्कर्ष, अथवा भेदोपभेदो के प्रदर्शन मे बहुत से अनिवार्य प्रतिबंध लगे रहते है जो नाटकीय कला और अभिनय से संबंधित हैं। इतिहास या आख्यानक साहित्य उन सब से बरी रहता है। किन्तु श्री कृष्णानन्द चूॅकि नाटक देखते हुए अपनी इतिहास की पुस्तक पढ़ते जा रहे है इसलिए उनकी कल्पना वैसी ही होती चली गई है और नाटक की रंगशाला के उपयुक्त वह स्वभावतः बन नही सकी है।

श्री कृष्णानन्द जैसे नाट्य-समीक्षक को दृष्टि मे रखकर ही प्रसादजी ने लिखा है—

'हिन्दी में कुछ अकालपक्व आलोचक जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते है स्टेज मे यथार्थवाद। अभी वे इतने भी सहनशील नही कि फूहड़ परिहास के बदले—जिससे

वह दर्शकों को उलझा लेता है, तीन चार मिनट के लिए काला पर्दा खींचकर दृश्यांतर बना लेने का अवसर रंगमंच को दे। हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले चित्रपटो का अभ्युदय हो गया, और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया है। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है।...रंगमंच की तो अकाल मृत्यु हिंदी मे दिखाई पड़ रही है। कुछ मंडलियाँ कभी कभी साल में एकाध बार वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर कोई अभिनय कर लेती है, पुकार होती है आलोचकों की, हिन्दी मे नाटकों के अभाव की। रंगमंच नही है ऐसा समझने का कोई साहस नही करता। क्योंकि दोषदर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है जैसा 'कीन' ने किया था।'

इन उद्धृत वाक्यो से स्पष्ट है कि प्रसादजी नाट्यकला संबंधी स्वतंत्र आधार लेकर चले हैं और उसकी परीक्षा के लिए अनुकूल रंगमंच का होना भी आवश्यक है। बिना ऐसी परीक्षा का अवसर दिये, यह कहना कि प्रसादजी की भाषा जटिल है, नाटक नाट्योपयोगी नहीं, प्राथमिक उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ना है। प्रसादजी के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, और रोमैण्टिक नाटकों की अपनी सुस्पष्ट विशेषताएँ है जिनकी अवहेलना नही की जा सकती। उनकी स्वतंत्र नाट्यकला का अध्ययन न कर, डी० एल०

साहित्यिक व्यक्तित्व

प्रसादजी के न रहने पर उनके प्रेमियों की आँखों मे आँसू आना तो स्वाभाविक ही है, किन्तु इतने ही से उनके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। हमारे लिए यह भी उचित है कि जहाँ तक हो सके शीघ्र आँसू पोंछ कर हम उनके प्रति अपने उत्तर-दायित्व की भी थोड़ी सी रक्षा कर लें। उनके जीवन-काल में यदि हम उनके प्रति अकृतज्ञ रहे तो उतनी हानि नहीं, किंतु अब जब अमरो मे उनकी गणना होने जा रही है तब यह आवश्यक है कि यह देव-ऋण तो हम चुका ही दें। हमारे साहित्य मे उनका अमर स्थान है, किन्तु वह क्यों है, यह स्पष्ट कर देना ही उक्त ऋण चुका देना है। उन्हे हम नवीन युग का प्रतिनिधि मानते है तो किस हैसियत से, यह बात प्रकट करनी ही होगी। अब हम उनके प्रति किसी द्वि-अर्थक शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते क्योकि दिव्यात्माओ का स्वरूप आइने की तरह पारदर्शी ही होता है। उन्हे शाब्दिक मलिनता से स्पर्श करना उचित नही। इसलिए हमे सचेत होकर, बिना किसी व्यतिक्रम के, जो कुछ उनका प्राप्य है, उन्हें दे देना चाहिए।

किसी साहित्य में नवीन युग का सूत्रपात करने के लिए किसी व्यक्ति में कुछ तो विशेषता होनी ही चाहिए। प्रसादजी की यह विशेषता थी कि वे कुछ विशेष आदर्शों के उपासक युग मे,

नवीन वस्तुस्थिति का, नये युग की स्वस्थ [illegible] का, संचार करने वाले प्रथम पुरुष थे । उन्होंने अपने समय के आदर्शों की सीमा को, जो संकुचित हो रही थी, इतिहास और मनोविज्ञान की सहायता से बढ़ाने, अथवा न बढ़े तो तोड़ने की चेष्टा की, इसलिए वे इस युग के सब से पहले विद्रोही कवि हुए ।

प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों का मुख्य दार्शनिक प्रयोजन यह है कि हमारी संकुचित चेतना का विस्तार हो और हम रूढ़ि-बद्ध विचार-शृंखला को छोड़ कर व्यापक मानवीय स्वरूपों को देखें और इतिहास के प्रकाश मे मनुष्यों के उठने-गिरने के हेतुओं को समझकर किसी व्यक्ति मे यों ही उच्चता और नीचता का आरोप न कर लें । किसी की परिस्थितियों को समझना ही मुख्य प्रयोजनीय वस्तु है, उसके प्रति ईर्ष्या-द्वेष कोई वस्तु नही । यह उदारता बौद्ध साहित्य के अध्ययन से आई जिसमे मनस्तत्त्व का अक्षय भंडार भरा हुआ था ।

सच पूछिए तो यह उदारता भी स्वतः कोई लक्ष्य नही थी । कम से कम प्रसादजी के लिए तो वह नवीन समाज के स्वस्थ निर्माण मे सहायक होने की साधन भर थी । यह उनके नाटकों की बात है और उनकी कविता की जो रहस्यवाद कहलाती है बात यह है कि उनमें पहली बार स्वस्थ और वास्तविक शृंगार रस का प्रवेश हुआ । प्रकृति के रमणीक दृश्यो मे किसी प्रेमी की आभा, नारी और पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण मे दिव्य सौन्दर्य का प्रकाश और विकर्षण मे प्रकृति का उतना ही प्रशस्त

चोभ, यही वह परिष्कृत शृङ्गार है जिसकी प्रतिष्ठा प्रसादजी ने एक ऐसे नीतिवादी युग मे की जिसमें नारी और पुरुष का संबंध एक ओर महाकाव्योचित औदात्य खो चुका था और दूसरी ओर मानवोचित सौष्ठव और सहज प्रवेग भी खो कर जीवन के बाहर की वस्तु बन रहा था। किन्तु जीवन की यह वास्तविकता क्या नाक-भौंह सिकोड़ने मात्र से दूर होती ? हमारे नित्य के पारिवारिक और सामाजिक जीवन मे जो इसके विकृत रूप देखे जाते हैं, वे यदि किसी प्रकार कम हो सकते हैं तो शुद्ध शृङ्गार की ही प्रतिष्ठा से, वह शृङ्गार जो पूर्ण परिष्कृत पुरुषत्व और नारीत्व का नित्य धर्म है। प्रसादजी के पहले ऐसे खुले हुए विचार किसी ने नहीं व्यक्त किए, न किसी ने इस वस्तुस्थिति का इतना सूक्ष्म, रहस्यमय और परिष्कृत रूप ही उपस्थित किया।

यह वस्तुस्थिति न वाह्य त्याग और संकोच में है, न यह वाह्य उत्तेजना या उपभोग मे ही है। यह तो वस्तु का सहज स्वरूप ही है। इसी सहज स्वरूप को प्रसादजी ने अपने कल्पना-बल से विशद आध्यात्मिक रूप दे दिया है। जो लोग प्रसादजी को रूप और विलास का ही कवि मानते है उन्हे इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सुख और दुःख, संयोग और वियोग मे समान रूप से विशद आनन्द की सृष्टि करने वाला कवि, और इससे भी अधिक दोनो की समता में जीवन की पूर्णता मानने वाला कवि किस रूप और किस विलास से आकृष्ट हो रहा है ? वह तो एक मात्र प्रेम-वस्तु से ही आकृष्ट हो रहा है जो मानव-

जीवन की प्रधान वास्तविकता है। प्रेम की वास्तविकता की स्वीकृति हमारे साहित्य के इतिहास मे एक उल्लेखनीय घटना है। यहाँ से हमारा साहित्य विधि और नीतिवादी कृत्रिम प्रतीको को छोड़ कर सहज आनन्द की ओर प्रवाहित हुआ। प्रसाद जी ने और परवर्ती छायावादियो ने इस प्रवाह को उच्च मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया और उसमे आध्यात्मिक आभा भर दी। यह उत्थान युगप्रवर्तक था और इसका आरंभ प्रसाद जी से ही हुआ।

भले और बुरे, पुण्य और पाप, देवता और दानव दुःख और सुख प्रसादजी के लिए एक सिक्के के दो पहलू भर है। दोनो इस जगत्-काव्य के लिए समान रूप से आवश्यक है। बिना एक के दूसरे की सत्ता ही नहीं है। कवि न तो देवता का भक्त है, न दानव का दुश्मन। उसके लिए तो दोनो उपयोगी हैं, दोनो बराबर है। यह उनका तात्विक विचार था और इस तात्विक विचार को हम वस्तुस्थिति मूलक दर्शन का हिन्दी मे प्रथम प्रवेश कह सकते है। इसमें नवीन मनोवैज्ञानिक प्रसार और बौद्धिक उपक्रम की स्पष्ट झलक है। यही 'जनसत्तात्मक' विचारधारा की आधार-शिला बनी जो प्रसाद जी के साहित्य में मिलती है जिसमे स्त्री-पुरुष की समता, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और समानाधिकार के आदर्श निहित हैं। आज तो वे ही अपने को वस्तुवादी कहते हैं जो आधुनिक अशान्त जीवन के प्रवाह मे बहते हुए दैनिक घटनाओ का चित्रण करते और प्रायः उत्तेजना, स्थूल मनोभाव या अशान्ति

में ही कथाक्रम को चलाते और समाप्त करते है। किन्तु वस्तुवाद की यह परिभाषा अतिशय सीमित और संकुचित है। वस्तुवाद एक काव्यशैली भी है और एक जीवनदर्शन भी। गोर्की का जीवनदर्शन वस्तुवादी है किन्तु उसकी काव्यशैली 'रोमैण्टिक' है। प्रसादजी की काव्यशैली भी कल्पना प्रधान है किन्तु उसमें युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों और मानवीय वास्तविकताओं का भी कम प्रवेश नहीं है। प्रसाद जी का दर्शन रहस्यवादी, उनकी काव्य प्रणाली रोमैण्टिक और उनकी कथावस्तु का मूल वस्तून्मुखी है, यह कहना अधिक संगत होगा।

प्रसादजी का वस्तुवाद उत्तेजक कोटि का नहीं है, वह उच्च कोटि की मानसिक साधनाओं और अनुभूतियों पर अवलंवित है। यदि कहें कि वह वस्तुस्थिति भी कुछ काल्पनिक आदर्शों पर स्थित है और वास्तविक वस्तुस्थिति तो स्थूल, दृश्य जगत् ही है तो यह बात कहते नही बनती। कोरा कायिक प्रेम तो बर्बर युग की वस्तु है। उसका मानसिक और सांस्कृतिक परिष्कार प्रत्येक युग अपनी अपनी दृष्टि से करता आया है। साहित्य में हम इसका परिचय सभी समयों मे पाते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी विशेष युग से पूर्व युग की प्रतिक्रिया-स्वरूप स्थूल यौन आकर्षण को प्रधानता दी गई हो अथवा किसी अन्य में ह्रासोन्मुख विलासिता के लक्षण प्रमुख हो गए हो। पर इन अवसरो को छोड़ देने पर हम साहित्य में आरंभ से ही परिष्करण का सांस्कृतिक उद्योग पाते हैं। प्रसाद-जी ने भी इस उद्योग में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने हमारी

दृष्टि के अस्वाभाविक संकोचों को दूर किया और व्यापक मानवीय मनोभाव प्रतिष्ठित किए। 'सु' और 'कु' के रहस्यों का इतिहास मे अनुसंधान किया और चुप हो रहे। केवल परिस्थिति ही मनुष्य को भला-बुरा बनाती है। इनके अलग अलग श्रेणी विभाग उनकी दृष्टि मे नैतिक जड़ता-मात्र थे। इसी जड़ता से हमारा उस समय का 'आदर्शवादी' साहित्य छूट नही पाया था। प्रसाद जी ने उसे छुड़ाने की चेष्टा की और यदि हमारी आज की नज़र पहले वालों की नजर से कुछ साफ है तो इसका अधिकांश श्रेय प्रसादजी के युगप्रवर्त्तक उद्योगों को ही है।

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमि के विस्तार के साथ ही प्रसादजी ने सामाजिक क्षेत्र मे भी नये स्वातंत्र्य और नवीन आदर्शों का प्रवेश कराया जिनकी झलक हम विशेप कर उनके उपन्यासो मे देखते हैं। यद्यपि प्रसादजी के आदर्श, युग की प्रगति के अनुकूल, उनकी स्वतंत्र विचारणा के परिणाम थे, किन्तु यदि हमे पाश्चात्य विचारकों से तुलना करनी हो तो हम कहेंगे कि प्रसादजी के सामाजिक आदर्श फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के पश्चात् प्रतिष्ठित होने वाले समता और स्वतंत्रता के आदर्शों से मिलते जुलते है। फ्रान्स के विक्टर ह्यूगो और इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री मिल की विचारणा के बहुत निकट प्रसादजी की सामाजिक विचारणा है। इसका कारण मुख्यतः भारतीय परिस्थिति और तत्कालीन यूरोप की परिस्थिति की समानता ही है। एक उदार जनसत्तात्मक भावना, और परं-

वर्गगत आभिजात्य का विरोध प्रसादजी के कल्पनाशील, नवोन्मेषशाली साहित्य की आधार-भूमि है।

इस वस्तुस्थिति तक पहुँचने की सीढ़ियों पर भी हम एक दृष्टि डाल लें। जो संकीर्ण और कलाहीन संस्कृति उनके आगमन के समय हिन्दी मे थी वह हममें से बहुतों को मालूम ही है। जो हम अपने घरों में गलीज और मनो में अर्द्ध-चेतन उत्साह और अर्द्ध-निद्रित अज्ञान लेकर अचानक महाराणा प्रताप से सहानुभूति प्रकट करने निकल पड़े तो सहसा कहाँ पहुँचे इसका पता हम नहीं बता सकते। कुछ सौन्दर्य, कुछ साधना की सामग्री हमारे पास भी है, हमारे आसपास चारो ओर भी है, और सहानुभूति प्रदर्शित करने की अपेक्षा कुछ वास्तविक कार्य करने को अपने घर में भी है, यह बात हम भूल ही गए थे। प्रसादजी ने पहले पहल प्रेम का पुट देकर हमारी दैनिक परिस्थिति को, रात की उजियाली और कलियो की मुसकान को, ताराओं की दमक, लहरों की उठान और ऐसी न जाने कितनी वस्तुओं का सौन्दर्य दिखा कर एक नवीन वस्तुस्थिति की पहली प्रेरणा उत्पन्न की। यहाँ 'वस्तुस्थिति' का प्रयोग किसी संकीर्ण अर्थ मे मैं नहीं कर रहा। यहाँ उसका प्रयोग नीति, विवेक और वैराग्य की कृत्रिम धारणा और तज्जन्य कला-अभिव्यंजना के विपरीत प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द के सहज आध्यात्मिक प्रवाह के लिए किया जा रहा है जो उच्चतर कला की प्रेरक है। यह सारी प्रकृति किसी सुंदरतम के हाथ की सजाई, उसी प्रियतम के द्वारा उपहार मे दी गई है, यह रहस्य उन्होंने ही बताया

और यह बताना कोई साधारण बात नहीं थी। यह साहित्य में एक नई दृष्टि का उन्मेष था। इससे सर्वप्रथम एक हलकी जिज्ञासा, कौतूहल, सौन्दर्य चेतना, फिर कला की अभिज्ञता क्रमशः उत्पन्न हुई और हम एक युग को पार करने लगे। तत्काल प्रसादजी मनोविज्ञान की भूमि में, बौद्ध साहित्य में, प्रविष्ट हुए और वहाँ से हमारे लिए सुप्रसिद्ध करुणा और अहिंसा आदि विभूतियाँ लाए जिनका प्रयोजन धार्मिक नहीं विशुद्ध मनोवैज्ञानिक ही था। मनोभावों के विकास के लिए इन वृत्तियों की कितनी आवश्यकता है, यह प्रसादजी के नाटकों में देखने को मिलता है। और इन अन्वेषणों के सिलसिले में प्रसादजी ने सब से महत्वपूर्ण वस्तु एक और दी—नारी जो पुरुष की उद्धारक है। यह अभिज्ञता यद्यपि उनकी पहली कृतियों से भी होती है पर कामायनी में पहुँचकर उसकी पूरी परिपुष्टि हो जाती है। आप पूछेंगे कि क्या यह कोई वस्तुस्थिति है, यह भी तो एक आदर्श ही है। इसका उत्तर यही है कि नारी के प्रति किए गए पुरुष के शताब्दियों के अत्याचार के परिणामस्वरूप नारी की श्रेष्ठता भविष्य युगों मे बहुत दिनो तक वस्तुस्थिति ही रहेगी। यह प्रसादजी के ऐतिहासिक अध्ययन से प्राप्त हुई वस्तुस्थिति कही जा सकती है। अस्तु, इस ओर उनके साहित्य में मनोविज्ञान की व्यापकता आती गई, उस ओर उनके व्यक्तित्व मे चित्त की विक्षेप रहित स्थिति का आध्यात्मिक उत्कर्ष समाता गया। दोनों ही कार्य-कारण रूप में अथवा युगपत ही हुए और 'कामायनी' में उनका पूर्ण

विकास हुआ है। इसलिए 'कामायनी' अपने युग की सर्वश्रेष्ठ कृति हुई है।

कामायनी काव्य अपने पूर्व युग की कृतियों से अनेक विशेषताएं रखता है। प्रथम, उसका मनोवैज्ञानिक आधार सुविकसित और प्रौढ़तर है तथा उसमें एक व्यापक अंतर्निहित दार्शनिक निरूपण अपने लिए स्थान बना सका है। यह निरूपण प्रसादजी की समन्वयशील विचारणा का प्रतिष्ठापक है। द्वितीय, कामायनी में पूर्व युग की नीतिवादी प्रतीकव्यंजना के स्थान पर आनंदवादी आध्यात्मिक व्यंजना की स्थापना है। तृतीय, इसमें पूर्व युग की 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' की बंधी हुई, आदर्शवादी लीक को तोड़कर जीवन प्रयोगों का विस्तार दिखाया गया है। यह विस्तार नवीन यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतीक है। चतुर्थ, रहस्यवाद और प्रेमाख्यानक काव्य के भीतर प्रसादजी ने नवीन सांस्कृतिक निर्माण का कार्य प्रचुर परिमाण में कामायनी द्वारा किया है। और पंचम, केवल काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भी कामायनी का स्थान आधुनिक हिन्दी में अत्यंत ऊंचा है।

ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ साथ सामयिक साहित्य और संस्कृति का भी प्रसादजी ने अच्छी तरह अवलोकन किया था, जिनका उपयोग उन्होंने अपने दोनों उपन्यासों और कितनी ही आख्यायिकाओं में बड़ी योग्यता के साथ किया है। प्रसादजी स्त्री-पुरुष के समानाधिकार, मानव-मानव के समानाधिकार और स्वातंत्र्य के हामी थे और इस संबंध में उनके

विचारों से सुप्रसिद्ध दार्शनिक मिल के विचारों का अद्भुत मेल दिखाई देता है। इसका यह आशय नहीं कि प्रसादजी पर मिल का प्रभाव पड़ा था। संभव है प्रसादजी ने मिल का अध्ययन भी न किया हो (वे दार्शनिक अध्ययन के लिए भारतीय ग्रंथों से बाहर प्रायः कम जाते थे, केवल साहित्य की कुछ पाश्चात्य चीजें पढ़ा करते थे) किन्तु दोनो की परिस्थितियाँ एक सी थीं। दोनो ही मध्यवर्ग के बौद्धिक उत्थान और जनसत्तात्मक प्रवृत्तियो के युग और वातावरण में उपस्थित थे। अतः सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मे दोनों का विचारसाम्य स्वाभाविक ही है। ह्यूगो और वाल्टेयर के आदर्श भी प्रसादजी के अनुकूल थे। प्रसादजी की संस्कृति पौरुष गुण संपन्न होने के कारण उनके साहित्य में शक्ति और आनन्द का स्रोत प्रधान है, तथा इस युग के लिए यदि उनका कोई संदेश है तो वह शक्ति और आनन्द की उपासना का, संवर्द्धना का ही संदेश है। दुःखो और सुखो मे, मनुष्य की संपूर्ण वस्तुस्थिति मे यह शक्ति का ही प्रवाह बहता रहे यही उनकी एकान्त साधना थी। इसलिए हम उन्हें नवयुग के प्राणो का कवि कह सकते है। यही संक्षेप मे उनका साहित्यिक व्यक्तित्व है।

(१९३७, दिसम्बर)

व्यक्ति की एक झलक

गत वर्ष जब प्रेमचन्दजी हिन्दी संसार को सूना करके जा रहे थे तब उनके साथ स्मशान तक प्रसादजी भी गए थे और मैं भी गया था। अर्थी काशी की गलियों से होकर जा रही थी, इतने में किसी ने वहीं की बोली में कहा, "मालूम होता है कोई मास्टर मर गया है।" बात यह थी कि अर्थी के साथ थोड़े से पढ़े-लिखे लोग थे, कोई भीड़ न थी और 'राम-नाम सत्य है' की आवाज भी वैसी नहीं हो रही थी। ऐसी अवस्था में कोई मामूली मास्टर ही मर सकता था, और कौन मरता!

स्पष्ट ही मुझे उसकी वह बात अच्छी नहीं लगी और मैं कुछ गम्भीर-सा बन गया। अर्थी चली जा रही थी और हम लोग उसके पीछे चल रहे थे। इतने में देखता क्या हूँ कि प्रसाद जी ने मेरे कन्धे पर हाथ रख लिया है और कान से लग कर धीरे से, किन्तु अपनी सुपरिचित मुस्कान के साथ कह रहे हैं, "वाजपेयी जी, ई का कहि रहा है, कुछ समझ में आवता है?" प्रसाद जी को जब विनोद करना होता तब वे इसी प्रकार खड़ी बोली को ज़रा टेढ़ी-मेढ़ी कर दिया करते थे!

मैं अपनी वही फिलासफी सुनाने को हुआ, यह कि आज किसी दूसरे देश का इतना बड़ा व्यक्ति उठ गया होता, तो क्या दृश्य होता, कोई यह कैसे कह सकता कि कोई मास्टर मर गया

है, सिर्फ; यह मैं कह ही रहा था कि प्रसादजी ने बीच ही में बात काट दी। कहने लगे, 'अरे यार, तुम कुछ समझत नहीं हो, का नाम के बीच मा, यहै तो बनारसी रंग आय।' जब कभी प्रसादजी की इच्छा होती, बहुत प्रसन्न होते, तो मुझसे कानपुर की बोली में बातें करते। वे स्वयं उसी प्रान्त के मूल निवासी थे, यह भी झलक उनकी बोली में रहती।

मेरी उदासी कम हुई। मैंने यह समझा कि उसने मास्टर के मरने की बात किसी तुच्छता के विचार से नहीं कही। वह अपने किसी काम में लगा हुआ था। जो बात स्वाभाविक उसके मन मे आई वही उसने कही। इसमें मेरे लिये गम्भीर होने की कोई बात नहीं थी। लाखों मनुष्यों का किसी मनुष्य के मरने पर काम-धाम छोड़ कर तन्मय हो जाना कुछ बहुत आवश्यक नहीं; न मरनेवाले की महत्ता ही इससे प्रकट होती है कि उसकी अर्थी के साथ कितने अधिक व्यक्ति थे, न इससे मृत व्यक्ति को कुछ सुख है, न कुछ लाभ। देखने की बात तो यह है कि किसी ने अपने जीवन-काल मे क्या किया। अपने जीवन से स्वयं उसको कितना संतोष या पछतावा रहा और दूसरों के लिये वह क्या छोड़ गया? यही दो मुख्य बातें किसी के जीवन का महत्व निर्णय कर सकती है। काल इतना विशाल है और पृथ्वी इतनी विस्तृत है कि बड़े बड़े सम्राटों की कीर्ति फीकी पड़ जाती है। जिनके जीवन और मरण के अवसर, एक ही साँस में, संसार को आनन्द के कोलाहल और शोक के सन्नाटे से भर सकते हैं, वे ही बड़े नहीं हैं। बड़े

भी हैं जिनका जीवन-दीप सूने में ही बुझ गया है किन्तु जिनकी अमरज्योति एक के पास से दूसरे के पास जाकर, सब को आलोकित करेगी, धीरे ही धीरे सबके अनुभव में आवेगी, सबको प्रकाश देगी। ये सब बातें उसी क्षण मेरे माथे में आ गईं और मैंने प्रसादजी की ओर हँस कर देखा और कहा सचमुच आप ठीक कहते हैं, यही बनारसी रङ्ग है।

प्रसादजी फिर मुस्कराये और बोले, 'अब समुझ मा आवा, बनारसी रङ्ग का आय ?' मैंने कहा 'आवा समुझ मा'।

पर सच तो यह है कि प्रसादजी की बात मेरी समझ में फिर भी नहीं आई, क्योंकि मैं उसे समझना चाहता ही नहीं था। अथवा यह कहूँ कि मेरी समझ के परे उनकी बात थी। मैं तो भविष्य की बात सोच रहा था कि आगे चल कर प्रेमचन्दजी का सम्मान होगा, अभी लोग उन्हे मामूली मास्टर ही समझें तो समझ लें। पर प्रसादजी का यह मतलब बनारसी रङ्ग से नहीं था। उनका मतलब तो यह था कि कोई किसी के मरने पर क्यों मातम मनावे। हम स्वयं कितनो के मरने की खबर रखते हैं ? सब अपने अपने काम में लगे हुए है, अपनी अपनी धुन में मस्त है, यही अच्छा है। आनन्द तो अपने काम में ही, अपनी कृति में ही है; दूसरी जगह उसे कोई कहां ढूढ़े और ढूढ़े भी क्यों ? सब अपने मे ही आनन्द पाते हैं; जिसको यह आनन्द उपलब्ध नही वही उसकी खोज में इधर-उधर भटकेगा।

भविष्य की आशा भी एक प्रकार का भटकना ही है, मैं भी

इसी आशा में भटक रहा था और प्रसाद जी की बात समझना नहीं चाहता था। पर प्रसादजी जैसे निर्मम और निर्लेप व्यक्ति का वैसा कहना स्वाभाविक ही था।

जो कोई किसी की आशा करता है वह अपने साथ प्रवंचना करता है। जो भविष्य पर आस्था रखता है, वह अपने अंतःकरण की दुर्बलता प्रकट करता है। जो अपनी कृति पर अविश्वास करेगा, वही अपनी कीर्ति चाहेगा। जो अपनी करनी से प्रसन्न नहीं है, संसार में उसे कभी प्रसन्नता नसीब न होगी। बनारसी रंग से प्रसाद जी का एकमात्र यही आशय था किंतु मैं इसे समझना नहीं चाहता था। दुर्बलता तो मेरे अंदर थी।

मैं ने प्रसाद जी का सदैव यही बनारसी रंग देखा। बाहर से उनका व्यक्तित्व देखकर कोई उनकी मुस्कान से मुग्ध होता, कोई उनकी व्यवहारपटुता और मैत्री से मोहित होता। किंतु उनके इस दिव्य किन्तु मोहक बाह्य के भीतर जाकर अपनी ही कृति में आनन्द माननेवाले, कीर्ति की लिप्सा न रखने वाले, भली-बुरी समीक्षाओं से समान रूप से तटस्थ रहनेवाले निस्पृह तथा दिव्यतर प्रसाद जी को बहुत कम लोगों ने देखा। मैं जब उन्हे पहचानने के योग्य हो रहा था, इतने मे वे स्वयं ही न रहे !

मेरे पास प्रसाद जी के न जाने कितने संस्मरण हैं, कितनी स्मृतियाँ हैं। अपने जीवन का कितना आनन्द मैंने उनके संपर्क से प्राप्त किया, मै नहीं कह सकता। उसे कहना उसका मूल्य घटाना होगा। पर एक बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता।

प्रसाद जी अपने युग के सब से बड़े पौरुषवान कवि थे। मैथिली-शरण जी का काव्य करुणा के रंग से ओत-प्रोत है। शक्ति का संकल्पात्मक स्रोत उसमें उतना नहीं। 'प्रियप्रवास' के हरिऔध जी के संगीत में पौरुष है, किन्तु अपने समय की संकोचशील प्रवृत्तियों की छाया भी उसमें पड़ी हुई है। 'निराला' जी का पौरुष नारी के स्नेह से ही नहीं सम्मान से भी संबद्ध होने के कारण 'रोमेण्टिक टाइप' का है। श्री सुमित्रानन्दन पंत जी के काव्य में (मेरा मतलब उनके सर्वश्रेष्ठ 'पल्लव' काव्य से है) बाल्यसुलभ स्निग्धता और निर्मलता है, किंतु प्रसाद जी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय है। इसीलिये मैं प्रसाद जी को हिन्दी का सब से प्रथम और सब से श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनन्दवादी कवि मानता हूँ। प्रसादजी का साहित्य सौन्दर्य और कल्पना प्रधान होता हुआ भी उनके काव्य-प्रतीक वास्तविक जीवनरस से अभि-षिक्त हैं। जीवन से वैराग्य, तटस्थता और निषेधों का प्राबल्य हम उनमें कही नही पाते। छायावाद, जिसके ये आविर्भावक थे उनकी पुरुष-वृत्ति का साधक हुआ है। नारी और पुरुष दोनों में शक्ति की एक ही तरंग समान रूप से भरने के कारण प्रसाद जी में किसी प्रकार का मानसिक स्खलन या दुर्बलता नहीं देख पड़ती। स्वस्थ स्त्री और पुरुष जैसे और जो कुछ होते हैं वही प्रसाद जी के काव्य में हैं। और चित्रण में भी प्रसाद जी मनोवैज्ञानिक

यथार्थता की ओर निरंतर बढ़ते गये है, जिसका विकास उनके अंतिम काव्य ग्रन्थ 'कामायनी' मे बड़े उत्तम रूप से हुआ है।

प्रसाद जी और प्रेमचन्द जी एक दृष्टि से एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेमचन्द जी का साहित्य मुख्यतः दुःख के आधार पर स्थित है। दुःख का बोध करा देना ही शक्ति का स्रोत बहा देना है। उनका यही मूलमंत्र था। (यद्यपि दुःख या दैन्य का परिचय कराने से वे सब जगह सफल नही हुए) प्रेमचद जी ने आनंद के विधानात्मक पक्ष की ओर अधिक ध्यान नही दिया। इसके विपरीत प्रसाद जी संस्कृत और स्वस्थ नारी और पुरुष की शक्ति का रहस्य ही प्रकट करते रहे। शक्ति का परिचय करा देना ही दुःख का उच्छेद कर डालना है। उनका यही विधान पक्ष था। जहाँ तक रूढि है वहाँ तक शुद्ध शक्ति नहीं है, इसलिए प्रसाद जी रूढ़ियों का तिरस्कार करके एक मात्र शक्ति के ही साधक हुए। इस साधना मे उनके समान सफल साहित्यकार मुझे इस युग मे कोई दूसरा नहीं दिखाई देता। भारतवर्ष के इने-गिने आधुनिक श्रेष्ठ साहित्यकारो में प्रसाद जी का पद सदैव ऊँचा रहेगा, इसमे तो संदेह ही क्या है, किन्तु मुझे कहना यह है कि अपने उद्देश्य के प्रति ऐसी एक-निष्ठा मैंने किसी आधुनिक कलाकार में नहीं देखी। इसे आप बनारसी रंग कहें, या काशी की महिमा कहे, या 'प्रसाद' जी की अपनी सूझ कहे, संस्कृति कहे, जो कुछ चाहे, कहें।

आज वह बनारसी रंग कहाँ है, वह काशी की महिमा कहाँ

...क्ति का एकनिष्ठ उपासक वह आधुनिक शैव कहाँ है ?
...न्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नेता, मेरे सम्मानित मित्र 'प्रसाद
...ी' कहाँ हैं ? हार मान कर कहना पड़ता है 'प्रसाद जी' अब
...हीं रहे।

(१९३७ नवम्बर)